ज्ञान का स्वरूप

नीलिमा सिन्हा

अपनी स्नेहमयी माता

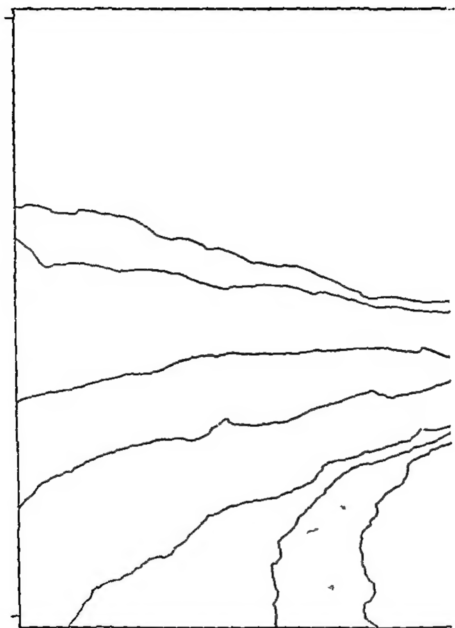
श्रीमती सुखदा पाण्डेय

एवं मातृतुल्य बचीया

श्रीमती नारायणी पाण्डेय

को सादर समर्पित

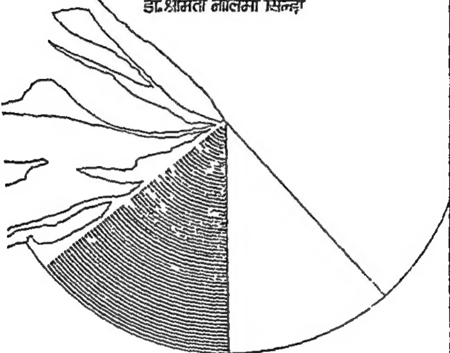
—नीलिमा



ज्ञान का स्वरूप

भारतीय एव पाश्चात्य दार्शनिक मतों के परिप्रेक्ष्य मे

डॉ. श्रीमती नीलिमा सिन्हा



शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली–110002

संस्करण
प्रथम, 1989

ज्ञान का स्वरूप ।। शोधात्मक आलोचना ।।

प्रकाशक
शारदा प्रकाशन
16/एफ—3 असारी रोड
दरिया गज, नई दिल्ली—110002

मुद्रक
हरिकृष्ण प्रिंटस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली—110032

मूल्य
नब्बे रुपये मात्र

GYAN KA SWAROOP by Dr Neelima Sinha
(a Study of Knowledge with special reference to Indian and western philosophy)

विषय-सूची

भूमिका

दशन के इतिहास के आरम्भ से ही ज्ञानमीमासीय प्रश्न मानव चिंतन से जुड़े हैं। इसे किसी भी प्रकार अहैतुकी नही कहा जा सकता। क्योकि यदि दशन का उद्देश्य तत्व मीमासीय चिनन ही स्वीकार किया जाय, फिर भी ज्ञान सबधी प्रश्नो की अपेक्षा उपेक्षित नहीं की जा सकती। किसी भी दाशनिक चिंतन को स्वीकाय होने के लिए उसकी तत्वमीमासीय और ज्ञानमीमासीय स्थापनाओ मे सगति होना आवश्यक है। पाश्चात्य दशन म तकनिष्ठ अनुभववादियो ने तत्वमीमासा का खडन कर स्वतत्र ज्ञानमीमासा की स्वीकृति दी है। इस प्रकार दशन के क्षेत्र मे ज्ञानमीमासीय चिंतन की बाध्यता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

भारतीय दशन मे ज्ञानमीमासा और तत्वमीमासा के बीच सामान्यत कोई ऐसी स्पष्ट विभाजक रेखा देना सभव नही है जिससे दोनो एक दूसरे से असम्बद्ध होकर रह सकें। वस्तुत भारतीय दशन के सभी सम्प्रदायो ने अपनी अपनी तत्वमीमासीय दृष्टि को प्रतिष्ठित करने के लिए तदवत सगत ज्ञानमीमासा देने का प्रयास किया है। अतएव इन दर्शनो मे ज्ञानमीमासा तत्वमीमासा का साधनमात्र है। इसका अथ यह कदापि नही है कि भारतीय दाशनिको ने ज्ञानमीमासा को महत्त्व नही दिया है। प्रस्तुत पुस्तक मे विवेचित षड् दशन के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध और जैन दशन के ज्ञानमीमासीय प्रश्नो की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी दशनो मे ज्ञानमीमासा पर अत्यन्त सूक्ष्मता और गम्भीरता से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि भारतीय दशन की परिधि मे आने वाले वेद, उपनिषद् तथा समसामयिक विचारको ने भी ज्ञानमीमासा पर स्फुट रूप से विचार किया है किन्तु उनका उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक मे नही हुआ है। इनको समाविष्ट नही करने के मुख्यत दो कारण हैं—प्रथम तो इनके ज्ञानमीमासीय चिंतन मे क्रमबद्धता का अभाव है और द्वितीय विषय के विस्तार को सीमित करना व्यावहारिक दृष्टिकोण से आवश्यक है।

इसी प्रकार पाश्चात्य दशन मे आरम्भ से ही ज्ञानमीमासा को पूण प्रतिष्ठा प्राप्त है।

प्लेटो ने थियेटेटस और मेनो मे अत्यन्त स्पष्टता और विस्तार से ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमा और उत्स निर्धारण का प्रयास किया। उसके दर्शन मे तत्वमीमासा और ज्ञानमीमासा को समान गरिमा प्राप्त है। पाश्चात्य दर्शन के मध्ययुगीन विचारको का चिन्तन मुख्यत धर्म, ईश्वर और चर्च केन्द्रित रहा। अत इस युग के दर्शन मे ज्ञानमीमासीय विवेचनो का प्राय अभाव है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के अनुभववादी और बुद्धिवादी विचारको ने ज्ञानप्राप्ति के साधन को ही अपने अध्ययन का केन्द्र मानकर अन्यान्य दार्शनिक प्रश्नो की व्याख्या की है। काट के समीक्षावाद मे ज्ञान का स्वरूप और ज्ञान की सीमा के विषय मे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। हेगेल, ब्रडले, बर्गसा, मूर, रसेल आदि समस्त दार्शनिको ने ज्ञान-सबधी प्रश्नो की उपादेयता स्वीकार की है। तर्कनिष्ठ अनुभववादियो ने तो ज्ञानमीमासा को स्वत साध्य ही बना दिया है। पाश्चात्य दर्शन मे ज्ञानमीमासको की इस गौरवशाली परम्परा के समस्त विचारको का मत इस पुस्तक मे प्रस्तुत करना सभव नही है। अतएव भारतीय ज्ञानमीमासा से तुलनात्मक अध्ययन के लिए हमने बर्ट्रेन्ड, रसल, ए० जे० एयर, ए० डी० बूजले और आर० एम० चिज्म के मत को लिया है। यद्यपि इनके मत पाश्चात्य दर्शन के सम्पूर्ण ज्ञानमीमासीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नही करते किन्तु समसामयिक पाश्चात्य दर्शन के ये शिरोमणि ज्ञानमीमासको की कोटि मे रखे जा सकते हैं। वस्तुत हमारे लिये विवेचन एव विश्लेषण के विस्तार को सीमित करने के लिये यह एक बाध्यता है। इस प्रकार इस ग्रथ के सदर्भ मे समसामयिक पाश्चात्य दर्शन एक सीमित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमासा को एक धरातल पर लाने की समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके आधार पर चिंतन के आयामो को बहुगुणित किया जा सकता है। इसे ध्यान मे रखकर दोनो दर्शनो के समानार्थक प्रतीत होनेवाले प्रत्ययो का विश्लेषण कर उनकी समानता और उनके अतर को स्पष्ट करने का प्रयास यहा किया गया है। वस्तुत विश्लेषणात्मक विधि के आधार पर दोनो दर्शनो के अनुसार ज्ञान के स्वरूप का अध्ययन ही इस वैज्ञानिक विश्लेषण का अभीष्ट है। अत इस पुस्तक का उद्देश्य दोनों दर्शनो मे से किसी एक को श्रेष्ठ या मौलिक प्रमाणित करना नही है। वास्तव मे किसी भी दार्शनिक चिंतन का एक सदर्भ होता है। उस सदर्भ मे ही उसे श्रेष्ठ या हीन प्रमाणित किया जा सकता है। भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिको ने पृथक पृथक सदर्भों मे ज्ञानमीमासीय प्रश्नों को उठाया है अतएव इनके ज्ञानमीमासीय सम्प्रत्ययों के अर्थ निर्धारण मे इस तथ्य को ध्यान मे रखा गया है।

पुस्तक, वैज्ञानिकता की दृष्टि से छह अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय मे भारतीय दार्शनिको के अनुसार ज्ञान की धारणा स्पष्ट करने के क्रम मे प्रमुख दर्शन-सम्प्रदायो के मतो की व्याख्या की गई है। द्वितीय अध्याय मे पाश्चात्य दार्शनिको (रसेल, एयर,

वूजले और चिज्म) द्वारा बतलायी गई ज्ञान की उपाधियों की व्याख्या की गई है। इन दोनो अध्यायों मे उपलब्ध तीन प्रमुख सम्प्रत्ययो —सत्यता, विश्वास और प्रमाण का विश्लेषण क्रमश तृतीय, चतुर्थ और पचम अध्याय मे किया गया है। षष्ठ अध्याय मे पिछले अध्यायो के अध्ययन के आधार पर दोनो दर्शनो के अनुसार ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

सम्पूर्ण विवेचन मे प्रयुक्त अंग्रेजी पदो के पर्याय के लिए शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मानविकी शब्दावली II और मानविकी शब्दावली IV का प्रयोग किया गया है। किंतु इनसे उचित निर्देश के अभाव मे सामान्य रूप से दर्शन मे स्वीकृत शब्द व्यवहृत हुए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पर्यायवाची शब्दो की आवश्यकता भी हुई है जिन्हें हमे गढना पडा है। सुविधा के लिए पुस्तक मे, अत मे, तकनीकी पदो की हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली को जोड दिया गया है। विषय विवेचन एव विश्लेषण मे जिन पुस्तको और निबन्धो का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग किया गया है, उनकी सूची भी अन्त के पृष्ठो पर उपलब्ध है।

—नीलिमा सिन्हा

कृतज्ञता-आभार

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन कार्य सम्पन्न होने पर मैं अपना प्रथम नमन आदरणीया सुश्री सुरमा दे, भूतपूर्व अध्यक्षा, दर्शनशास्त्र विभाग, रांची वीमेन्स कॉलेज, रांची को अर्पित करती हू,जिनके चरणों में मुझे दर्शन का प्रथम पाठ सीखने का अवसर मिला।

दर्शन के जिन दो निष्णात विद्वानों, गुरुवर डॉ० याकूब मसीह, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन शास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय तथा गुरुवर डॉ० बसन्त कुमार लाल, आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन शास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय के सान्निध्य में मुझे दर्शन के विद्यार्थी के दायित्व-बोध से अवगत होने का सौभाग्य मिला है, उनको मेरी अशेष श्रद्धा निवेदित है।

स्नातकोत्तर विभाग मगध विश्वविद्यालय एवं गया कॉलेज गया तथा गौतम बुद्ध महिला कॉलेज, गया के दर्शन-शास्त्र विभाग के सभी गुरुजनों और शुभेच्छु सहयोगियों के प्रति मैं विनयावनत कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिनके सहयोग व स्नेहपूर्ण परामर्श से मैं लाभान्वित हुई हू।

गुरुदेव डॉ० समरेन्द्र कुमार वर्मा, आचार्य, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, के उन श्रीचरणों में मेरा कोटिश नमन अर्पित है, जिनमें बैठकर मैंने तर्क करने की कला और दार्शनिक विश्लेषण सीखा। प्रस्तुत पुस्तक में गर्व करने लायक जो भी है, उसका श्रेय आदरणीय डॉ० वर्मा को है तथा अगर इसमें कुछ त्रुटियां हैं तो वे मेरी अकिंचन बुद्धि के कारण हैं।

अपने ज्येष्ठ भ्राता डॉ० पाण्डेय सूरजकान्त शर्मा, पुस्तकालयाध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली का आभार व्यक्त करने में मेरे शब्द असमर्थ हैं। पूज्य भ्राता की कर्मठता सदैव मेरी प्रेरणा स्रोत रही है। इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण श्रेय आदरणीय भ्राताश्री को ही है। उन श्रीचरणों में मेरा शतश नमन अर्पित है।

अंत में मैं अपने जीवन साथी प्रो० अशोक कुमार सिन्हा, व्याख्याता स्नातकोत्तर, भूगोल विभाग मगध विश्वविद्यालय, बोधगया को अत्यन्त उपकृत हू जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन के अभाव में न यह कार्य आरम्भ हुआ होता और न सम्पन्न।

गौतम बुद्ध महिला कॉलेज
गया (बिहार)।

—नीलिमा सिन्हा

1

भारतीय दर्शन में ज्ञान की धारणा

(अ) भारतीय ज्ञानमीमासा मे प्रयुक्त सम्प्रत्यय

भारतीय ज्ञानमीमासा मे ज्ञान, विद्या, प्रमा, बोध, प्रज्ञा, आदि पर्यायवाची से लगने वाले सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञानमीमासीय विवेचन की स्पष्टता के लिये हम प्रथमत इन सम्प्रत्ययो के अथ और प्रयोग पर ध्यान देना होगा।

1 विद्या

उपनिषदो मे विद्या एव इसके विपरीतार्थक पद अविद्या का प्रयोग मुख्यत निम्नलिखित अर्थों मे हुआ है

(क) माया—श्वेताश्वतर मे अविद्या को माया कहा गया है।[1] माया को अद्वैतवेदान्ती सृष्टि की व्याख्या के लिए प्रयुक्त करते हैं। आवरण तथा विक्षेप माया की दो शक्तिया हैं जिससे ब्रह्म का अध्यास जगत मे हो रहा है। परन्तु शकराचाय ने माया और अविद्या मे भेद किया है। उनके अनुसार ब्रह्म ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। परन्तु माया अनादि है, उसका नाश नही होता क्योकि ईश्वर रूप मे वह ब्रह्म की शक्ति है। ध्यातव्य है कि माया सज्ञानात्मक नही वरन् तत्वमीमासीय सम्प्रत्यय है।

(ख) प्रकृति—श्वेताश्वतर मे माया को प्रकृति कहा गया है।[2] पुन माया अविद्या का वस्तुगत रूप है। अत अविद्या प्रकृति है। अविद्या का यह प्रयोग भी तत्वमीमासीय ही है।

(ग) विद्या एकत्वदर्शिका तथा अविद्या नानात्व का निरूपण—ईशोपनिषद् मे विद्या को एकत्वदर्शिका तथा अविद्या को नानात्व का निरूपण कहा गया है।[3] एकत्वदर्शिका का अथ है—'वह जिससे एक परमतत्व का बोध हो।" नानात्व का अथ है—"वह जिससे परमतत्व अनेक आभासित होता है।" अर्थात वह जिससे लौकिक जगत का ज्ञान होता है।

इस प्रकार इस प्रयोग के अनुसार विद्या एक प्रकार का ज्ञान है और अविद्या के इस

प्रयोग को ज्ञानमीमांसीय समझा जा सकता है।

(घ) विद्या अमरत्व प्राप्ति का साधन तथा अविद्या लौकिक कामनाओं की सिद्धि के साधन के रूप मे—ईशावास्योपनिषद् म कहा गया है विद्या से अमतत्व की प्राप्ति होती है और अविद्या से इस नश्वर जीवन के कामनाओं की सिद्धि होती है। इस प्रकार पारमार्थिक जगत की सिद्धि का साधन विद्या तथा लौकिक सिद्धियो का साधन अविद्या है।[4] परन्तु उपनिषदें यह स्वीकार करती हैं वे गहन अधकार मे हैं, कि मात्र विद्या ही यथेष्ट नही। जो अविद्या की उपासना करते हैं वे गहन अधकार म हैं, जो मात्र विद्या मे रत है वे इस अधकार तक भी नही पहुच पाए।[5] यहा पर अविद्या को लौकिक ज्ञान का माध्यम बतलाया गया है। लौकिक ज्ञान से हम वास्तविकता का ज्ञान नही होता। इस अथ म अविद्या की प्राप्ति के बाद भी अधकार से निवृत्ति नही होती। किंतु अविद्या की प्राप्ति विद्या की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार न तो मात्र अविद्या ही पर्याप्त है और न विद्या ही। अतएव इन दोनो के अध्ययन की आवश्यकता है।[6] यहा पर विद्या एक प्रकार का ज्ञान प्रतीत होती है।

(ङ) बौद्ध ग्रथो मे विद्या और अविद्या—बौद्ध ग्रथो म भी विद्या और अविद्या पदो का प्रयोग पाया जाता है। यहा अविद्या का अथ नामरूप के भ्रम मे रहना, मोह को यथाथत न जानना बताया गया है[7] तथा नामरूप के भ्रम से परे हटकर मोह के ज्ञान के रूप मे विद्या को परिभाषित किया गया है।[8] यह भेद उपनिषदो म वर्णित विद्या और अविद्या के उस भेद के समकक्ष है जहा विद्या को पारमार्थिक ज्ञान की तरह और अविद्या को लौकिक ज्ञान की तरह प्रयुक्त किया गया है।

(च) परा और अपरा विद्या—उपनिषदो मे श्रेष्ठ और निम्न दो कोटि की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। निम्नकोटि का ज्ञान वह है जो वेदो म और अन्य ग्रन्थों मे मिलता है। उच्च कोटि का ज्ञान वह है जिससे परम ब्रह्म जाना जाता है। वेदो के ज्ञान से ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान नही होता[9] यद्यपि उनम परमाथ ज्ञान का वणन है पर तु ब्रह्म तथा आत्मा मन-वाणी से परे है।[10] अत एक एसी विद्या भी है जिससे लौकिक-ज्ञान तथा परमाथ-ज्ञान से भी आगे जाकर ब्रह्म ज्ञान होता है। इस प्रकार की विद्या को परा विद्या कहा गया है। स्पष्टत यह ज्ञान मन वाणी से ब्रह्म का है, अत यह विद्या भी वाणी से परे है अभिव्यक्ति से परे है। गीता परा विद्या को ब्रह्म ज्ञान और आत्म ज्ञान के रूप मे वर्णित करती है जो अभिव्यक्ति स परे है।[11]

बौद्ध दार्शनिक भी दो प्रकार की विद्याओ—का उल्लेख करते हैं—परमाथ और व्यावहारिक।[12] परमाथ सत्य, जो कि निष्प्रपच तत्त्व है बुद्धि का विषय नही बनता और यह प्रपच विषयक जो बुद्धि है उसी का नाम व्यवहारिक सत्य है।[13]

आस्तिको और नास्तिको द्वारा विद्या की दो कोटियो में किए गए इस भेद मे अतर यह है कि नास्तिक (बौद्ध) परमार्थ विद्या को उच्च कोटि की और लौकिक अविद्या को निम्न कोटि की विद्या कहते हैं।[14] किन्तु आस्तिक लौकिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान का भी, जब वह अभिव्यक्ति के स्तर पर आ जाता है, निम्न कोटि म रख देते हैं। परतु दोनो दर्शनो मे समानता यह है कि दोनो ही उच्च कोटि की विद्या उसे कहते हैं जो बुद्धि का और वाणी का विषय नही है।

(छ) ज्ञान के समानार्थक—सामान्य प्रयोग मे विद्या और ज्ञान को पर्याय-वाची भी स्वीकार किया जाता है। राधाकृष्णन् कही-कही विद्या को नानात्व से मुक्ति का माध्यम बतलाते हुए बिना किसी भेद के इसके लिए ज्ञान का भी प्रयोग करते हैं। यहा विद्या को ज्ञान का और अविद्या को अज्ञान का समानार्थक स्वीकार किया गया है।[15]

2 प्रज्ञा

भारतीय दर्शन म एक अन्य सप्रत्यय प्रज्ञा का भी प्रयोग हुआ है।[16] उपनिषदो मे प्रज्ञा को ही सब देवताओ पचभूत, अडज, जारज, स्वेदज और उद्भिज इत्यादि समस्त जीवो, समस्त स्थावर तथा जगम प्राणियो का नेत्र और समस्त लोक का नेत्र तथा अत मे ब्रह्म कह दिया गया है। यह ब्रह्म मन वाणी से परे एक रहस्यात्मक अनुभूति है। इस रूप मे प्रज्ञा एक रहस्यात्मक अनुभूति है।

उपनिषदो मे ही प्रज्ञा को अन्तर्दृष्टि के अर्थ मे प्रयोग किया है। यह वह अन्त-र्दृष्टि है जिससे मनुष्य देश काल मुक्त, निर्गुणातीत ब्रह्म को जानता है। धर्मशास्त्रो के अनुशीलन, चिंतन, मनन से वह इस अन्तर्दृष्टि अर्थात् प्रज्ञा को प्राप्त करता है और इस आध्यात्मिक सिद्धि के द्वारा अगोचर गोचर होता है, अज्ञात ज्ञात की कोटि म आता है।[17]

प्रज्ञा के प्रथम प्रयोग और द्वितीय प्रयोग म अतर यह है कि प्रथम प्रयोग मे प्रज्ञा साध्य है, द्वितीय प्रयोग म साधन है। इस द्वितीय अर्थ में प्रज्ञा परा विद्या की कोटि म आ जाती है। साधारण ज्ञान अथवा अपरा विद्या से इसका भेद यह है कि यह पूर्णत अभिव्यक्ति का विषय नही है और न ही इसकी यथार्थता-अयथार्थता को दूसरे लोग परख सकते हैं।[18]

बौद्ध ग्रन्थ प्रज्ञा को मनुष्यो का रत्न कहते हैं।[19] यहा प्रज्ञा साधन रूप मे वर्णित है। परिज्ञेय सुत्त मे राग-क्षय, द्वेष क्षय, मोह क्षय को प्रज्ञा कहा गया है।[20] प्रज्ञा यथार्थ ज्ञान का साधन है।[21] शील, समाधि आदि के अनुशीलन से प्रज्ञा उत्पन्न होती है[22] और प्रज्ञा से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।[23]

3 ज्ञान

प्रज्ञा और विद्या के अतिरिक्त जो तीसरा सज्ञात्मक पद सर्वाधिक व्यजनाओ के साथ भारतीय दर्शन मे प्रयुक्त हुआ है वह है—ज्ञान। प्रज्ञा को जहा ब्रह्म कहा गया[24] और ब्रह्म

को जहा ज्ञान कहा गया[5] वहा प्रज्ञा और ज्ञान पर्यायवाची हैं। परतु ये दोनो पद सदव पर्यायवाची नही रह पाते हैं। कभी-कभी प्रज्ञा को ज्ञान के साधन के रूप मे प्रयोग किया जाता है। प्रज्ञा का अथ जहा अन्तर्दृष्टि है वहा प्रज्ञा एक विशेष ज्ञान—ब्रह्म ज्ञान अथवा तत्त्व ज्ञान का साधन है। ऋषियो ने वेद को देखा—वेदो से सम्बन्धित इस प्रचलित कथन का अथ यह है कि ऋषियो ने अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा से वेदो को जाना। वेदों का ज्ञान साध्य है जिसका साधन प्रज्ञा अथवा अन्तर्दृष्टि है।

प्रज्ञा की अपेक्षा विद्या पद ज्ञान के अधिक निकट होता है। माया को अविद्या भी कहा गया और भावरूप अज्ञान भी। इस अथ मे अविद्या और अज्ञान पर्यायवाची हैं। परन्तु कही-कहीं विद्या और ज्ञान पद का भेद भी देखने को मिलता है। उपनिषदो म विद्या पद का अर्थ परमार्थज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान है तथा अविद्या पद का अथ लौकिक ज्ञान है।[26] गीता मे इसके विपरीत अलौकिक और लौकिक ज्ञान के लिए क्रमश ज्ञान और अज्ञान पद का प्रयोग न करके सत्त्वज्ञान[27] और राजस ज्ञान[28] पद का प्रयोग है।

मात्र गीता म ही नही, समस्त भारतीय दशन मे ही मुख्यत दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा है—लौकिक ज्ञान और अलौकिक अथवा पारमार्थिक ज्ञान। लौकिक ज्ञान इस दृश्य जगत का ज्ञान है। अलौकिक ज्ञान ब्रह्म, आत्मा इत्यादि तात्त्विक या पारमार्थिक जगत का ज्ञान है। इन दोनो प्रकार के ज्ञान मे ज्ञान मीमासीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि लौकिक ज्ञान सम्बन्धी दावे की सत्यता-असत्यता की जाच का जा सकती है। परन्तु अलौकिक ज्ञान सम्बन्धी दावा उस जांच से परे है। अलौकिक ज्ञान तर्क वितक का नही, आस्था का विषय है।

परन्तु ज्ञान के इन दो भेदो से अलग हटकर ज्ञान की समग्रता के विषय म ही एक प्रश्न उठाया जा सकता है—ज्ञान क्या है?

न्याय-वैशेषिक बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान तथा प्रत्यय को पर्यायवाची कहते हैं।[29] पुन बुद्धि की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि बुद्धि अथवा ज्ञान वह है जो वस्तु को प्रकाशित करे।[30] ज्ञान सम्बन्धी इस कथन को प्राय प्रत्येक भारतीय दार्शनिक दुहराता है। परन्तु 'प्रकाशित' करने का क्या अथ है? क्या कमरा जिस प्रकार बत्ती जला देने से प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार ज्ञान से वस्तु प्रकाशित हो उठती है? परन्तु ज्ञान की यह व्याख्या अलकारिक है। यह कोई परिभाषा न होकर उपमा है।

तब ज्ञान क्या है? अनेक विद्वान ज्ञान को सरल प्रत्यय कहते हैं। अत उसका विश्लेषण कठिन मानते हैं।[31] परन्तु ज्ञान सरल प्रत्यय है—इस कथन का क्या आधार है? यहां समस्या सुलझाने के बजाय और उलझ जाती है और कुछ नए प्रश्न प्रारम्भ हो जाते हैं कि प्रत्यय विज्ञापन सरल प्रत्यय क्या है? ज्ञान क्यों सरल प्रत्यय की कोटि म रखा जाय? आदि। यह समस्या विकट है और उलझी हुई भी।[32]

कुछ लोग इस समस्या से अलग कि ज्ञान जटिल प्रत्यय है या सरल प्रत्यय ज्ञान की परिभाषा-सम्बन्धी समस्या का यह समाधान देते हैं कि ज्ञान प्रत्यय दैनिक जीवन में प्रयोग किए जाने वाले उन प्रत्ययों की तरह है जिनकी परिभाषा नहीं दी जा सकती है

जैम – टेबुल, बिल्ली इत्यादि। परन्तु इस समाधान मे भी दोष है। टेबुल, बिल्ली इत्यादि प्रत्ययो की परिभाषा दे सकना आनुभविक असम्भावना भले हो कोई तार्किक असभावना नही। "टेबुल शब्द की अब तक कोई परिभाषा हम नही दे पाए हैं"—यह एक अलग प्रतिज्ञप्ति है और "टेबुल की परिभाषा दे सकना सम्भव ही नही है"—यह एक दूसरी प्रतिज्ञप्ति है। पहली प्रतिज्ञप्ति की सत्यता अथवा असत्यता भूत और वतमान के उदाहरणो से प्रमाणित की जा सकती है। परन्तु दूसरी प्रतिज्ञप्ति को प्रमाणित करने के लिए भविष्य का भी उदाहरण देना पडेगा जो सम्भव नही है। यही बात ज्ञान पद की पारिभाषिकता के सम्बन्ध मे भी लागू होती है।

बौद्ध दशन मे इस समस्या का एक दूसरा रूप सामने आता है। बौद्ध ज्ञान मीमासा मे जानना पद आया है। वह जानना ज्ञान की एक अनिवाय उपाधि के रूप मे प्रयोग किया गया है।[33] इस प्रकार बौद्ध एक दूसरी समस्या को उठाते हैं। पहले समस्या मात्र 'ज्ञान' प्रत्यय के विश्लेषण की थी, यहा से दूसरी समस्या उत्पन्न होती है—हम कब कहेंगे कि हम किसी वस्तु को जानते हैं?

ये दोनो प्रश्न दो प्रकार के हैं। "ज्ञान क्या है?" यह एक तत्त्वमीमासीय प्रश्न है, इसका अथ है कि ज्ञान का स्वरूप अपने आप मे क्या है? "हम कब कहेगे कि हम किसी वस्तु को जानते हैं?" यह एक ज्ञानमीमासीय प्रश्न है। यहा हमे सिफ इन स्थितियो को बतला देना है जिनमे हम 'जानना' शब्द का प्रयोग वधत कर सकते हैं।

हमारा सम्बन्ध ज्ञान सम्बधी इस तत्त्वमीमासीय प्रश्न से नही है बल्कि ज्ञानमीमासीय प्रश्न से है। अत हमारा सीधा प्रश्न है कि किन स्थितियो मे किसी व्यक्ति को जानने का दावा वैध होता है या वधत जानने की कौन-कौन सी अनिवाय और पर्याप्त उपाधिया हैं।

4 प्रमा

भारतीय दाशनिक ज्ञान की दो कोटिया बताता है, वध और अवैध।[34] नैयायिक वैध ज्ञान को प्रमा कहते है तथा अवैध ज्ञान को अप्रमा। मीमासको मे प्राभाकरो ने नैयायिक पदावली को स्वीकार किया है तथा वैध ज्ञान के लिए 'प्रमा' पद का प्रयोग करते हैं, किन्तु कुमारिल वैध ज्ञान के लिए 'प्रमाण' तथा अवैध के लिए 'अप्रमाण' पद का प्रयोग करते हैं। किन्तु यथाथ ज्ञान के लिए 'प्रमाण' पद के प्रयोग मे कठिनाई यह है कि 'प्रमाण' ज्ञान के साधन के अथ मे भी प्रयोग किया जाता है।[35] यहा तक कि स्वय कुमारिल भी ज्ञान के स्रोत के लिए भी प्रमाण पद ही प्रयोग करते हैं। किन्तु दो वस्तुओ के लिए एक पद के प्रयोग से अनावश्यक भ्रम की सभावना है। अत यथाथ ज्ञान के लिए हम 'प्रमा' का तथा ज्ञान के साधन के लिए 'प्रमाण' का प्रयोग करेंगे।

अब, अगर प्रमा वध ज्ञान है तो कोई ज्ञान वैध कब होता है? अर्थात् वैधता क्या है? वैध पद सर्वाधिक प्रचलित अथ मे तकशास्त्र मे व्यवहार किया जाता है। वहा वैध का अथ है नियमानुकूल। जैसे—

सभी गायें हरे रंग की हैं,
सीता एक गाय है,
अत, सीता हरे रंग की है।

इस निगमनात्मक अनुमान मे निगमन तर्कशास्त्र के सभी नियमो का पालन किया गया है। अत निष्कष मे वास्तविक सत्यता न होते हुए भी निष्कष वैध है।

वैध ज्ञान का क्या तात्पय है ? ज्ञान के सदम मे जब वैध का प्रयोग किया जाता है तो वैध का अर्थ है नियमानुकूल। किन्तु यहा नियमानुकूलता आधार वाक्यो से तार्किक रूप से निगमित होना नही है, जैसा कि निगमनात्मक तकशास्त्र म है। यहा वधता का अथ है कि कौन-सा ज्ञान प्रमा की परिभाषा के अनुकूल है ? जो ज्ञान प्रमा की परिभाषा के अनुकूल है वही ज्ञान वैध है अथवा प्रमा है।

इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहा हमे ज्ञान के मनोवैज्ञानिक पक्ष और तार्किक पक्ष के अन्तर को समझना होगा।[36] मनोवैज्ञानिक रूप मे ज्ञान किसी वस्तु का बोध है। यह बोध सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। जसे भ्रम की स्थिति मे रज्जु मे सप का बोध होता है। यह बोध असत्य है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक अर्थ मे यह ज्ञान है किंतु तार्किक अथ मे इस प्रकार का बोध ज्ञान नही है। यहा बोध और ज्ञान मे अन्तर है। तार्किको के अनुसार बोध अगर सत्य है तभी वह ज्ञान की सज्ञा पा सकता है।

इस प्रकार ज्ञान की मनोवैज्ञानिक परिभाषा दशन के अनुकूल नही है। अत दाशनिक मनोवैज्ञानिक परिभाषा से अलग हटकर ज्ञान की परिभाषा मे सत्यता की भी माग करता है। भारतीय दाशनिक ज्ञान मे वध-अवध का भेद करते हुए प्रमा और अप्रमा की सज्ञा द देते हैं, जबकि पाश्चात्य दाशनिक अप्रमा अथवा असत्य ज्ञान को एक स्वतोव्याघाती पद कहता है। उसके अनुसार ज्ञान का सत्य होना अनिवाय है।[37] इस प्रकार प्रमा वैध ज्ञान है और ज्ञान को वैध कहने का अथ है वैसा ज्ञान जो प्रमा की परिभाषा के अनुकूल हो। किन्तु प्रमा की परिभाषा क्या है ? उसके पारिभाषिक लक्षण क्या हैं ? किन लक्षणो की उपस्थिति मे किसी ज्ञान 'क' को प्रमा की कोटि मे रखेंगे ?

भारतीय दाशनिको म प्रमा के स्वरूप या लक्षण के सबध मे मतैक्य नही है। परम्परागत भारतीय दशन के विभिन्न सम्प्रदायो न प्रमा के भिन्न भिन्न लक्षण बताए हैं। सवप्रथम हम क्रमानुसार इनकी चर्चा करेंगे।

(आ) विभिन्न भारतीय दशनों मे प्रमा का स्वरूप

1 साख्य दर्शन

साख्यकारिका म ज्ञान को बुद्धि के विकार के रूप म परिभाषित किया गया है। साख्य सत्वमीमासा के अनुसार पुरुष एव प्रकृति दो मूल और पृथक तत्त्व हैं। अज्ञानवश इनका सयोग होता है और सृष्टि का विकास चक्र चल पडता है। इस विकास क्रम म सवप्रथम महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है और इसी महत् के विकार रूप समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है।

किंतु मात्र बुद्धि के विकार के रूप मे ज्ञान की परिभाषा कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है। साख्य के अनुसार समस्त ज्ञान के तीन घटक हैं—विषय, विषयी और ज्ञान की प्रक्रिया।[38] साख्य दर्शन मे विशुद्ध चेतना या पुरुष ज्ञाता अथवा विषयी है, शेष प्रतिबिम्बित वृत्तियो की विषय वस्तु है और प्रकृति के रूपान्तरण का विषय के रूप में चेतना के अन्दर प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है।[39] शब्दान्तर मे ज्ञाता या विषयी पुरुष है ज्ञेय या विषय प्रकृति है तथा प्रकृति या ज्ञेय या विषय का विषयी अथवा पुरुष की चेतना मे प्रतिबिम्बित होना ज्ञान है। साख्य दर्शन के ज्ञान के सप्रत्यय को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। साख्य दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चेतनमय सत्ता है जो सभी परिवर्तनो से परे हैं।[40] पुरुष जब प्रकृति के ससर्ग मे आता है तो पुरुष निर्विकार और अपरिवर्तनशील रहता है किंतु प्रकृति का रूपान्तरण प्रारम्भ होता है और विकास की क्रिया प्रारम्भ होती है। इस क्रम म महत् की उत्पत्ति होती है जो मात्र प्रकृति का रूपान्तरण अर्थात् प्रकृति का रूप है।[41] यही महत या बुद्धि प्रकृति की अनेक वस्तुओ का रूप धारण करती है। ससार की समस्त वस्तुए इस रूप मे विकृति हैं। यही वस्तुए ज्ञेय हैं। ज्ञाता अथवा विषयी की चेतना म जब वस्तु रूप प्रकृति प्रतिबिम्बित होती है तो ज्ञान की उत्पत्ति होती है। परन्तु यह ज्ञान की उत्पत्ति की तत्त्वमीमासीय व्याख्या है। इस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा की कोटि मे कब रखेंगे ?

साख्यकारिका के अनुसार यथार्थ ज्ञान बुद्धि का ऐसा विकार है जो अविपरीत, असन्दिग्ध और अनधिगत विषय को प्रकट करता है।[42] अन्यत्र भी कपिल मुनि ने प्रमा को नवीनता और निश्चयात्मकता से परिभाषित किया है।[43] साख्यकारिका की इस परिभाषा से प्रमा के चार लक्षण स्पष्ट होते हैं

(क) प्रमा बुद्धि का विकार है—प्रमा का यह लक्षण तत्त्वमीमासीय है एव ज्ञान मीमासीय एव विवेचन म सहायक नही। बुद्धि का विकार कहने से यह स्पष्ट होता है कि प्रमा मे जिस वस्तु की प्रतीति प्रमाता को होती है वह वस्तु पारमार्थिक रूप म ठीक उसी आकार मे वहा नही होती। उस वस्तु के रूप मे प्रकृति वहा अवश्य होती है अत उपादान की यथार्थता और उपादान की वस्तुनिष्ठता के बाद भी वस्तु का आकार परमार्थ नही है। यह तो अन्त करण बुद्धि है जो वस्तु का रूप धारण करती है। यह अवश्य है कि प्रमा मे जो वस्तु प्रतिबिम्बित होती है वह शून्य नही है क्योकि शून्य म से कुछ भी उत्पन्न नही होता।[44] उपादान के नियम से[45] उसका उपादान कारण प्रकृति है और आकस्मिक कारण महत् या बुद्धि। यही साख्य का यथार्थवाद है।

प्रमा का यह लक्षण तत्त्वमीमासीय है और आनुभविक ज्ञान की व्याख्या मे सहायक नही है। क्योकि अनुभवत किसी भी तत्त्वमीमासीय प्रश्न की सपुष्टि या उसके विपरीत तत्त्वमीमासीय प्रश्न की सपुष्टि सम्भव नही है। स्वय साख्य भी यह स्वीकार करते है कि मात्र अनुभव से परमार्थ ज्ञेय नही है।

(ख) प्रमा अविपरीत होता है—प्रमा का यह ज्ञान-मीमासीय लक्षण है।

किसी ज्ञान को अविपरीत कहने का अर्थ है—ऐसा ज्ञान जिसका विरोध अथवा खण्डन दूसरे ज्ञान के द्वारा न हो। इसे अबाधितत्व भी कहा जा सकता है।

गोवधन भट्ट ने सांख्य के अनुसार वैध ज्ञान के चार लक्षण बतलाए हैं—चित्तवृत्ति, यथार्थता, असंदिग्धता और नवीनता। यहा उन्होंने यथार्थता शब्द का प्रयोग अविपरीत शब्द के स्थान पर किया है।[46] इसके अनुसार सांख्य दशन म सत्यता का अथ है—ज्ञान का वस्तु की प्रतिच्छवि होना।[47] भाट्ट मीमासको ने सांख्यो के सत्यता के इस अथ की आलोचना की है[48] कि ज्ञान या वह प्रतिज्ञप्ति जिसके माध्यम से ज्ञान अभिव्यक्त किया जा रहा है, वस्तु की प्रतिच्छवि कैसे हो सकती है? भाट्ट मीमासकों के अनुसार ज्ञान घट और यह के रूप म नही होता, निणय के रूप मे होता है, जसे—यह घट है। इसलिए बुद्धि अगर वस्तु का रूप लेती है तो यह ज्ञान नही है और अगर बुद्धि निणय का रूप लेती है तो यह वस्तु का रूप नही लेती, जो सांख्य मत के अनुकूल नहीं है।

परतु श्रीभट्ट द्वारा ही दी गई सांख्य मत की सत्यता सबधी यह विवेचना उचित नही प्रतीत होती। ज्ञान की सत्यता को वस्तु की प्रतिच्छवि के रूप मे परिभाषित करना सत्यता का सवाद सिद्धान्त है। सवाद सिद्धान्त परत प्रामाण्यवादी मत है[49] जिसके अनुसार ज्ञान की सत्यता न तो स्वत उसी ज्ञान मे अन्तभू त रहती है जिसकी सत्यता पर प्रश्न चिह्न लगाया जा रहा है और न ज्ञान की सत्यता स्वत उसी ज्ञान से जानी जाती है। सवाद सिद्धान्त के अनुसार भी किसी ज्ञान—'क' की सत्यता 'क' पर निभर नही करती बल्कि इस बात पर निभर करती है कि ज्ञान 'क' तथ्य 'क' की प्रतिच्छवि है या नही। सांख्य मत का इस प्रकार के परत प्रामाण्यवादी मत से कोई सबध नही हो सकता क्योंकि इस पर मत वैभिन्न नही सकता कि सांख्य स्वत प्रामाण्यवादी है।[50] सांख्य दर्शन मे सत्यता के अथ को ततीय अध्याय म स्पष्ट किया गया है।

(ग) प्रमा अनधिगत होता है—प्रमा का अन्य लक्षण है इसका अनधिगत होना। अनधिगत का अथ है पूर्व ज्ञान न होना। प्रमा को अनधिगत रूप म परिभाषित करने पर सांख्यो के समक्ष धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आती है। क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नही है? सांख्य इसका उत्तर देते हैं कि वस्तुत धारावाहिक प्रत्यक्ष म अनन्त प्रत्यक्ष होते ही नही। अन्त करण वृत्ति वस्तु रूप धरकर हमारे सामने आती है और जितने क्षण भी हमारे सामने रहती है, एक ही वस्तु के रूप मे रहती है। अत धारावाहिक प्रत्यक्ष मे वस्तु नहीं बदलती जिससे कि कहा जाय कि प्रथम क्षण का ज्ञान दूसरे क्षण के ज्ञान की नकल है, अत अनधिगत नही है।

(घ) प्रमा सदेह से परे होता है—प्रमा को जब सदेह से परे कहा जाता है तो प्रभाकर मीमांसक इसे अनावश्यक कह देते हैं क्योंकि अनधिगत कहने स ही स्पष्ट है कि एसी प्रत्यभिज्ञा जो इसक पूव न हुई हो। सदेह की स्थिति मे प्रत्यभिज्ञा नही होती। अत अनधिगत कहने स ही सदेह का निराकरण होता

है। प्रभाकर के इस मत की परीक्षा हम आगे करेंगे।

'सांख्य दर्शनम्' में कपिल मुनि ने प्रमा को पहले नहीं जाने हुए का ज्ञान कहा है।[51] पहले नहीं जाने हुए का अर्थ अनधिगतत्व है जिसका अर्थ हम देख चुके हैं। निश्चयात्मकता के दो पक्ष हैं—आत्मगत और वस्तुगत। निश्चयात्मकता का आत्मगत पक्ष है संदेह का अभाव। वस्तुगत पक्ष है—खण्डन से परे होना। अगर कोई ज्ञान खंडित हो जाता है या खंडन के योग्य है तो निश्चय ही वह निश्चयात्मक नहीं है। अतः अबाधितत्व निश्चयात्मकता का वस्तुगत पक्ष है। इस प्रकार कपिल मुनि की परिभाषा से भी प्रमा के ये तीन लक्षण सामने आते हैं—

(क) अनधिगतत्व,
(ख) संदेह का अभाव, और
(ग) अबाधितत्व।

इन सम्प्रत्ययों से भिन्न सम्प्रत्ययों के आधार पर न्यायदर्शन में ज्ञान की व्याख्या की गई है। हम लोग आगे की चर्चा में देखेंगे कि न्याय अनधिगतता को प्रमा का पारिभाषिक लक्षण स्वीकार नहीं करता। फिर भी दोनों की मान्यताओं में पर्याप्त साम्य है।

2 न्याय दर्शन

नैयायिक ज्ञानमीमांसा पर इतना बल देते हैं कि वात्स्यायन ने न्याय दर्शन को परिभाषित करते हुए अपने भाष्य में लिखा है—प्रमाणों का संग्रह करके उनसे प्रमेय वस्तु की परीक्षा न्याय है।[52] परंतु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि न्याय ज्ञानमीमांसा को ही चरम मानते हैं। उनके अनुसार भी मोक्ष ही चरम है, ज्ञान उसका साधन है। वस्तुतः गौतम प्रणीत न्याय दर्शन में ज्ञानमीमांसा भी इतनी ही सीमाबद्ध है। परंतु न्याय दर्शन पर जो परवर्ती टीकाएं की गईं उनमें ज्ञानमीमांसा प्रमुख होकर आई। वस्तुतः गौतम के परवर्ती बौद्धों, मुख्यतः दिङ्नाग ने गौतम के वास्तववादी दर्शन के विरुद्ध जो आपत्तियां कीं उनका उत्तर देने में न्याय दर्शन की टीकाओं में ज्ञानमीमांसा प्रमुख हो गई।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से न्याय दर्शन दो भागों में रखा जा सकता है—परम्परागत न्याय और नव्य न्याय। इन दोनों में भेद का एक प्रमुख आधार इनकी ज्ञानमीमांसा का भी है।[53]

परम्परागत न्याय—न्यायमंजरी में जयन्त ने प्रमा के तीन लक्षण दिए हैं[54]—अर्थोपलब्धि, असंदिग्ध और अव्यभिचारी। जयन्त भट्ट मीमांसकों, बौद्धों और सांख्यों द्वारा बताए गए प्रमा के लक्षण अनधिगतत्व को नहीं स्वीकारते क्योंकि जयन्त के अनुसार प्रमा को अनधिगत बताना प्रमा की अव्याप्त परिभाषा है। अगर प्रमा अनधिगत है तो धारावाहिक प्रत्यक्ष को प्रमा की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए।[55] किन्तु अगर अनधिगतता प्रमा की अनिवार्य उपाधि नहीं है तो स्मृति भी प्रमा की कोटि में आ जाएगी। जबकि

नैयायिक स्मृति को अप्रमा कहते हैं। इस आरोप का खण्डन जयन्त अर्थोपलब्धि की व्याख्या से करते हैं। अर्थोपलब्धि का सही अर्थ अर्थजन्योपलब्धि है। अर्थात अगर कोई बोध किसी यथार्थ वस्तु से आता है तो उसे प्रमा कहेंगे। स्मृति की अवस्था में जो बोध प्रमाता को होता है वह बोध किसी यथार्थ वस्तु के द्वारा न होकर वस्तु की छाया के रूप के कारण होता है। अत स्मृतिजन्य ज्ञान अथवा स्मृति प्रमा नहीं है।

प्रमा को असंदिग्ध कहने का अर्थ हो सकता है कि प्रमा विषयिनिष्ठ है। किन्तु भ्रम भी विषयिनिष्ठ होता है। वस्तुत प्रमा और भ्रम दोनो में प्रमाता असंदिग्ध होता है किन्तु भ्रम अप्रमा इसलिए है कि उसमे अर्थोपलब्धि का अभाव रहता है।

अर्थोपलब्धि से प्रमा की वस्तुनिष्ठता पर बल पडता है। अर्थोपलब्धि के दो अर्थ हो सकते हैं

(क) अर्थ अर्थात विषय की उपलब्धि—जैसे घट मे रखे जल का प्रत्यक्ष हम हो रहा है और चेष्टा करने पर इस जल से हमारी तृष्णा शान्त हो सकती है। इस अर्थ में प्रमा को अर्थोपलब्धि द्वारा परिभाषित करने पर प्रमा की परिभाषा व्यवहारवादी हो जाती है। वस्तुत नैयायिको को इस प्रकार के व्यवहारवाद पर कोई आपत्ति भी नही है। बल्कि जब वे प्रमा की सत्यता असत्यता की जांच सम्बन्धी प्रकरण मे आते हैं तो वे प्रमा के इस व्यवहारवादी पक्ष पर अधिक बल देते हैं।[56]

(ख) अर्थजन्योपलब्धि—विषय के द्वारा उत्पन्न उपलब्धि। जैसे—'क' कोई वस्तु या विषय है और अगर ज्ञान 'क', इस विषय के द्वारा उत्पन्न किया गया है तो ज्ञान 'क' प्रमा है।

अर्थोपलब्धि का यह अर्थ न्याय वास्तववाद को प्रकट करता है और वास्तववाद पर की गई परम्परागत आपत्ति यहा भी की जा सकती है कि इसका क्या प्रमाण है कि हमारे किसी ज्ञान का कारण, यहा तक कि नैयायिक जिसे 'प्रमा' कहते हैं उसे भी उत्पन्न करने वाली कोई वस्तु, बाह्य जगत मे है?

इस प्रश्न के उत्तर मे नैयायिको के अनुसार यथार्थता का अर्थ स्पष्ट करना होगा। प्रमा की यथार्थता का अर्थ है प्रमा का अव्यभिचारी होना।[57] अव्यभिचारी का अर्थ है कि प्रमा भ्रामक और मिथ्या न हो। न्याय दर्शन मे प्रमा की यथार्थता पर अत्यधिक बल दिया गया है।[58] वात्स्यायन ने कहा है कि अगर किसी वस्तु का ज्ञान उसी रूप में हो रहा हो तो वह प्रमा है।[59] अन्यत्र भी "यदर्थविज्ञान सा प्रमिति" कहकर प्रमा की यथार्थता पर बल दिया गया है।[60]

किन्तु नव्य नैयायिको ने यथार्थ पद के विभिन्न अर्थ बताकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि प्रमा को यथार्थता की पदावली मे नही परिभाषित किया जा सकता।

नव्य न्याय—नव्य न्याय की ज्ञान मीमासा का प्रारम्भ गंगेशोपाध्याय के तत्व चिन्तामणि से होता है। तत्वचिंतामणि में गंगेश ने प्रमा की यथार्थता का खण्डन किया और प्रमा की यह परिभाषा दी—"यत्र तदस्ति तत्रतस्यानुभव प्रमा तद्वति तत्प्रकार-

कानुभवोवा।"[61] गगेश ने बताया कि अगर यथार्थता अबाधितता हो तो यह प्रमा का लक्षण नही हो सकता। क्योकि अगर एक ज्ञान दूसरे से बाधित होता है तो इससे यह स्पष्ट नही होता कि दोनो मे प्रमा कौन सा है। गगेश के अनुसार यथार्थता को अविसवादिता के अथ मे स्वीकार करने मे भी कठिनाई है। क्योकि सवाद का अथ है एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान मे समान रूप से उल्लेख होना। परतु यह तो भ्रम मे भी सम्भव है। पुन स्वप्न जगत मे भी बहुधा विभिन्न ज्ञानो मे सवाद होता है परतु वह प्रमा नही होता। साख्य जिस अथ मे यथार्थता को परिभाषित करते है वह अथ भी ठीक नही क्योकि ज्ञान तथा विषय दोनो दो भिन्न तत्त्व है तथा उनम समानता नही हो सकती।[62] इस प्रकार गगेश प्रमा को "जहा जो है उसमे उसी का अनुभव" कहकर परिभाषित करते हैं।

गगेश की इस परिभाषा मे 'तदवति' तात्त्विक स्थिति की ओर और 'तद्प्रकारक' ज्ञानात्मक स्थिति की ओर सकेत करते हैं।[63] इस प्रकार गगेश की परिभाषा का अथ है कि प्रमा मे ज्ञान का प्रकार तात्त्विक अथवा वास्तविक स्थिति के अनुरूप होता है। इनसे स्पष्ट है कि गगेश की परिभाषा भी यथार्थता से भिन्न नही है क्योकि गगेश यहा विषय और ज्ञान दोनों में तद्रूपता (तद्वति तदप्रकार का) स्थापित करते हैं। यहा भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान और विषय दोनो सदश्य हो सकते हैं?

3 पूव मीमासा

प्रमा के स्वरूप के सबध मे पूवमीमासा के दोनो सम्प्रदायो, भाट्ट और प्राभाकर ने अलग-अलग व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। हम इनके मत की एक एक करके चर्चा करेंगे।

भाट्ट मीमासा—कुमारिल वैध ज्ञान को इस प्रकार परिभाषित करते है

तस्मात दढ यदुत्पन्न नापि सवादमृच्छति
ज्ञानान्तेरण विज्ञान तत प्रमाण प्रतीयमान्।[64]

उम्बेक इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहा 'दृढ' प्रमा मे सदेह के अभाव का द्योतक है तथा 'न विसवादमृच्छति' (जिसे वह 'नापि सवादमच्छति के स्थान पर प्रयोग करते हैं), का अथ है जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध (खडन) नही होता। अबाधित होने के कारण ही प्रथम भ्रम से भिन्न है। क्योकि भ्रमात्मक ज्ञान अपने परवर्ती ज्ञान से बाधित होता है। सुचरित मिश्र ने 'विज्ञान' का अथ अधिक विषय का ज्ञान किया है अर्थात उनके अनुसार प्रमा को अबाधित और अनधिगत होना चाहिए।

पार्थसारथी ने पूवमीमासा के सूत्र 1/1/5[65] की टीका करते हुए वैध ज्ञान को परिभाषित किया है कि वध ज्ञान वह है जो कारण दोष स रहित हो अर्थात जिसका स्रोत (प्रमाण) दोष रहित हो, जो अबाधित हो तथा जो अनधिगत हो।[66]

इस प्रकार भाट्ट मीमासको के अनुसार वध ज्ञान के निम्नलिखित लक्षण हैं

(क) अबाधितत्व अर्थात् अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खण्डित न होना,
(ख) अनधिगत अर्थात जिसका पूवज्ञान न हो। भाट्ट ज्ञान को ...

उपयोग के संदर्भ में रखकर देखते हैं। व्यवहारिक रूप से उसी ज्ञान की उपादेयता है जो नवीन हो। जिसे हम पहले से जानते हैं उसे फिर जानकर व्यवहारिकता में कोई सहयोग नहीं मिलता,

(ग) असंदिग्ध अर्थात् सन्देह से परे हो, और

(घ) कारणदोषरहित हो। प्रमा का कारण (स्रोत) प्रमाण है। अतः किसी ज्ञान के कारणदोष रहित होने का अर्थ उसे उचित प्रमाण से प्राप्त होना है।

कारणदोषरहित और अबाधित कोई ज्ञान तभी हो सकता है जबकि वह यथार्थ हो। इस प्रकार पार्थसारथी ने वैध ज्ञान के तीन प्रमुख लक्षण बताए[67]

(क) अनधिगत,

(ख) यथार्थ (पर्याप्त कारण + खण्डन से परे), और

(ग) संदेह से परे।

भाट्ट मीमांसकों के ज्ञान सम्बन्धी इन लक्षणों की आलोचना में प्राभाकर मीमांसकों मुख्यतः शालिकनाथ, ने कहा कि वैध ज्ञान को अनधिगत कहना ज्ञान की परिभाषा को अव्याप्त बनाना है तथा दृढ़ पद अनावश्यक है। ज्ञान को अविसंवादी कहना अर्थात् अभ्रमात्मक कहना भी उचित नहीं क्योंकि वस्तुतः भ्रम भी यथार्थ ही होता है।[68]

वस्तुतः भाट्टों के सम्मुख प्रमा को अनधिगत कहते ही धारावाहिक प्रत्यक्ष की समस्या आ जाती है। क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा नहीं है? जैसे, किसी वस्तु 'क' का प्रत्यक्ष यदि हम 'क्ष' क्षण में हो रहा है तो सिद्धांततः यह 'क्ष' क्षण अनन्त सूक्ष्मतम खण्डों में विभाज्य है। मान लें कि वह विभाग क्ष$_1$, क्ष$_2$ इत्यादि है। क्ष में वस्तु क का हम जो ज्ञान हो रहा है वह क्ष में हमें हो चुका है। अतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में क्ष में होने वाला ज्ञान अनधिगत नहीं है। पुनः क्ष$_1$ के भी अनेक खण्ड हो सकते हैं जैसे क्ष$_1$ क, क्ष$_1$ ख इत्यादि। इस प्रकार क्ष के क्षण का प्रत्यक्ष भी धारावाहिक प्रमाणित होता है। तो क्या प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रमा की कोटि में नहीं रखना चाहिए? परन्तु भाट्ट प्रत्यक्ष को प्रमाण की संज्ञा देते हैं।

भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि यह दोषारोपण मात्र धारावाहिक प्रत्यक्ष के स्वरूप को न समझने के कारण किया जाता है। भाट्टों के अनुसार क्ष क्षण के विभिन्न अंशों क्ष$_1$, क्ष$_2$ इत्यादि में जिस वस्तु क का प्रत्यक्ष किया जाता है यद्यपि विभिन्न क्षणों के परिवर्तन के बीच भी वह वस्तु क शाश्वत है तथापि, क्षण तो परिवर्तित हो रहे हैं अतः क्ष$_1$ में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है वह क्ष$_1$ है और क्ष$_2$ में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है वह वस्तु क्ष$_2$ है—इस भांति धारावाहिक प्रत्यक्ष भी अनधिगत है और प्रमा की कोटि में आता है।[69]

प्राभाकर मीमांसा—प्राभाकर ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा दोनों ही क्षेत्रों में कट्टर वास्तववादी हैं। उनकी मान्यता है कि हमारे ज्ञान के विषय स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व-

ज्ञान है और हमारा ज्ञान मात्र उन्हें प्रकाशित करता है। यह मत प्रचलित वास्तववाद का है जो यह मानता है कि वस्तु का जैसा ज्ञान हमे होता है, यथावत वस्तु वैसी ही है। इस प्रकार के प्रतिबद्ध वास्तववादी दर्शन मे भ्रम का कोई स्थान नही रह जाता, फलत प्राभाकर भ्रम की व्याख्या ख्यातिवाद से करते हुए भ्रम को भी यथार्थ कहते हैं।[70]

प्राभाकर के अनुसार अनधिगतत्व के लक्षण के कारण प्रमा की परिभाषा मे अव्याप्ति दोष हो जाता है। वे असंदिग्धता के उल्लेख को भी अनावश्यक कहते हैं और उनके अनुसार यथार्थत्व को स्वीकार करने से ख्यातिवाद का खण्डन होता है। अत प्राभाकरों ने प्रमा को मात्र अनुभूति के द्वारा परिभाषित किया है। उनके अनुसार स्मृति इस दृष्टि से वैध ज्ञान नही है क्योंकि स्मृति मे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह किसी साक्षात वस्तु के द्वारा नही होता है वरन् पूर्व संस्कार के कारण होता है।[71]

इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार वैध ज्ञान अनुभूति है। यहा अनुभूति का अर्थ मात्र इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान नही है। यहा 'अनुभूति' का प्रयोग व्यापक है। वे अनुमान, उपमानादि जन्य ज्ञान को भी अनुभूति कहते हैं।

परन्तु वैध ज्ञान को मात्र अनुभूति से परिभाषित करने मे मीमांसकों के समक्ष कठिनाई है। उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि अनुभूति के अन्तर्गत वे मात्र साक्षात अनुभूति को रखते हैं या असाक्षात अनुभूति को भी रखते हैं? निश्चय ही जब प्राभाकर अनुमानादि को प्रमाण की श्रेणी मे रखते हैं तो वे असाक्षात अनुभूति को भी प्रमा मानते हैं। परन्तु असाक्षात अनुभूति को प्रमा मान लेने से स्मृति को भी वैध ज्ञान मानना पड़ेगा। क्योंकि स्मृति मे अनुभूति तो हमे होती ही है, अन्तर इतना है कि साक्षात प्रत्यक्ष म अनुभूति साक्षात वस्तु की होती है[72] और स्मृति म अनुभूति वस्तु के संस्कार की होती है। वस्तु का संस्कार भी वस्तु द्वारा ही उत्पन्न होता है, अत स्मृति भी असाक्षात् प्रत्यक्ष की श्रेणी म आ जाती है। ऐसी स्थिति मे प्रमा की श्रेणी से उसका बहिष्कार उचित नही प्रतीत होता है।

अगर असाक्षात अनुभूति को प्राभाकर अनुभूति की श्रेणी से हटाते हैं तो अनुमान को प्रमाण कहना उचित नही होगा। क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है और व्याप्ति असाक्षात अनुभूति पर आधारित होता है।[73]

नन्दकिशोर शर्मा ने पार्थसारथी द्वारा की गई इस आलोचना को निराधार कहा है।[74] उनके अनुसार स्मृति की उपस्थिति मात्र से कोई अनुभूति अप्रमा नही होती। व्याप्ति म अनुभूति उपस्थित मात्र रहती है किन्तु इन अवस्थाओ मे इन्द्रिय वस्तु से सम्पर्क मे रहती है।

इस मत के परीक्षण के लिए अनुमान और व्याप्ति का विश्लेषण करना पड़ेगा। एक उदाहरण लें—पर्वत पर धूम्र देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। इसमे कितनी बातें हैं? (क) पर्वत पर धूम्र का प्रत्यक्ष—अर्थात् इन्द्रिय से वस्तु का सम्पर्क, (ख) व्याप्ति—जहा जहा धुआ है वहा-वहा आग है, और (ग) इस आधार पर अनुमान—पर्वत पर अग्नि है अर्थात् अग्नि से इन्द्रिय के साक्षात सम्पर्क के अभाव मे ही निर्णय।

अब इस आपत्ति के विरुद्ध आपत्ति का अवसर यहीं से प्रारम्भ होता है। (क)

इन्द्रिय के साक्षात सम्पर्क मे धूम आया और (ख) हमारा निर्णय अग्नि से सम्बन्धित है जो इन्द्रिय सम्पर्क नही है। अर्थात हमारा अग्नि का ज्ञान असाक्षात है। स्मृति म भी यही होता है। इस समय हम स्मरण कर रहे हैं कि कल जब हम भ्रमण कर रहे थे तो एक विषधर हमारे पैरो के पास से सरक गया था—इस ज्ञान को अबध कहने का मीमा सको का आधार क्या है ? यही न कि उस समय जिस सप की अनुभूति हम हुई वह साक्षात नही है ? या इस समय जो अनुभूति हमे हो रही है वह सप के द्वारा नही, सप के सस्कार से उत्पन्न है अर्थात असाक्षात है। किन्तु सप का सस्कार ता कल हमने जो सप देखा था उससे प्राप्त हुआ। अर्थात फिर तत्वत हम अनुमान वाली स्थिति म पहुच गए। (क) कल हमने सप देखा—अर्थात सप से इन्द्रिय साक्षात सम्पर्क (ख) सप की स्मति अथात सप हमारे इन्द्रिय सम्पक मे नही आया। इस प्रकार स्मति भी अनुमान की भाति असाक्षात् ज्ञान प्रमाणित होती है। यहा अनुमान को प्रमा की कोटि मे रखकर स्मति का बहिष्कार उचित प्रमाणित नही होता।

प्राभाकरो के मत म एक दूसरी कठिनाई भी है। प्रमा को अनुभव मात्र से परिभाषित करने पर सभी प्रकार की अनुभूति जिसमे भ्रम भी है, वैधता की श्रेणी म आ जाती है। इसमे व्यावहारिक कठिनाई है। ज्ञान की वैधता के विश्लेषण को सिफ तात्विक स्तर पर रखने से प्रमा अपने सदभ से कट जाता है। प्रमा या ज्ञान स्वत साध्य नही है, नि श्रेय का साधन है। मीमासक भी प्रत्येक भारतीय दाशनिक की भाति यह स्वीकार करते है। यही कारण है प्राभाकरो के अनुयायी[75] रामानुजाचाय ने प्रामाण्य या प्रमात्व के तीन लक्षण बताए हैं—यथार्थ्य, स्मति स भिन्नता तथा सफलत्व। सफलत्व का अथ है—व्यवहार म सफलता।[76]

4 वेदात दशन

धमराजध्वरीन्द्र न वेदात परिभाषा मे प्रमा की दो प्रकार की परिभाषा दी हैं

(1) स्मृति के अतिरिक्त अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है।[77] इस परिभाषा म ज्ञान की दो उपाधिया हैं

(क) ज्ञान अनधिगत होता है अर्थात नवीनता प्रमा की अन्यतम उपाधि है, और

(ख) प्रमा अबाधित विषय का ज्ञान है। अबाधितत्व वह है जो अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खण्डित न हो।

(2) प्रमा की दूसरी परिभाषा स्मति का प्रमा की श्रेणी म रखकर की गई है—अबाधित विषय का ज्ञान है प्रमा।[78]

इन दो परिभाषाओ से ऐसा लगता है कि वेदान्ती ज्ञान के क्षेत्र म नवीनता अथवा अनधिगतत्व की स्थापना क प्रति दृढ़ नहीं है।[9] परतु वस्तुत ऐसा नही है। इन परिभाषाओ स इतना स्पष्ट होता है कि स्मृति को वेदान्ती निर्विवाद रूप से प्रमा की श्रेणी

मे रखते हैं और स्मृति के लिए ही ज्ञान की परिभाषा को इतना लचीला बनाते हैं। इ दो परिभाषाओ के सश्लेषण से ज्ञान की यह परिभाषा निकलती है

स्मृति के अतिरिक्त जिस किसी भी ज्ञान को प्रमा की कोटि मे रखा जाय उसकी अनिवार्य उपाधि है कि वह अनधिगत हो तथा अबाधित हो। स्मृति के क्षेत्र मे भी मात्र उसी स्मृति को प्रमा की कोटि मे रखा जा सकता है जो अबाधित हो।

प्रमा की दूसरी अनिवार्य उपाधि वेदान्त के अनुसार अबाधितत्व है। अबाधितत्व का अर्थ ज्ञान के खण्डन से परे रह जाने मे है। प्रश्न है वेदान्त तत्वमीमासा के अनुसार क्या दृश्य जगत का कोई भी ज्ञान वस्तुत अबाधित है? वेदान्ती ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या का प्रतिपादक है। ब्रह्मज्ञान के साथ जागतिक ज्ञान का खण्डन हो जाता है। वेदान्त म शुक्तिरजत की भाति घटादि पदार्थों को मिथ्यात्व प्राप्त है। फिर इनका प्रमात्व कैसे स्वीकारा जा सकता है । वेदान्त परिभाषा मे प्रतिज्ञापूर्वक इनका समाधान किया गया है।

ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर ही इन विषयो का बाध होता है। परतु ससार दशा मे इनका बाध नही होता। अत अबाधित पद से ससार दशा का अबाधित अर्थ विवक्षित है। जिस प्रकार आ आत्मनिश्चयात—आत्मनिश्चय (ब्रह्म साक्षात्कार) होने तक ही देह ही आत्मा है—यह प्रामाणिक है उसी प्रकार घटादि लौकिक पदार्थों का ज्ञान भी प्रमा है।[80]

वेदान्त ज्ञानमीमासा मे जो नई बात सामने आती है वह स्मृति से सम्बन्धित है। वेदान्ती स्मृति को प्रमा रूप प्रमाणित करने को कटिबद्ध है और इस हेतु वह प्रमा की परिभाषा मे अपवाद के लिए भी स्थान छोड देता है कि स्मृति के अतिरिक्त प्रमा को अनधिगत होना चाहिए। अन्य दार्शनिकों—मीमासको नैयायिका, साख्य ने स्मृति को प्रमा की कोटि मे नही रखा है। वेदान्त दर्शन इस दृष्टि से अन्य आस्तिक दर्शनो की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है। क्योंकि व्यवहार जगत मे प्रमा किसी अर्थ-सिद्धि का साधन होता है। उस रूप मे बहुधा स्मृति को भी प्रमा रूप मानकर निष्कर्ष निकाले जाते है। यथा इस समय मुझे स्मरण हो रहा है कि कमरे की चाभी मैंने पडोसी को द दी है। इस स्मृति को यथार्थ (प्रमा रूप) जानकर ही मैं पडोसी के पास जाकर कमरे की चाभी लाती हू।

स्मृति को 'प्रमा रूप करने से वेदान्ती मीमासको वाली व्याप्ति क स्वरूपजन्य कठिनाई से भी बच जाते हैं। स्मृति को प्रमा रूप कहने का तकनीकी लाभ यह भी है।

5 बौद्ध-दर्शन

धर्मोत्तर न बध ज्ञान को अनधिगतत्व से परिभाषित किया है।[81] क्योंकि प्रमा का महत्व उस वस्तु को प्राप्त करने वाली क्रिया मे सहयोग दने म है जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। अगर किसी वस्तु क के ज्ञान से हम क को पा ले रहे है तो ज्ञान वैध है।[82] चकि

अधिगत ज्ञान से इस प्रकार के लक्ष्य की पूर्ति नही होती अर्थात जब सर्वप्रथम हम उस विषय का ज्ञान होता है तभी हम वस्तु की ओर बढ़ जाते हैं। अत दुबारा प्राप्त ज्ञान हमें आगे बढने मे सहायता नही करता। इस प्रकार वैसा ज्ञान जो अनधिगत नही है—प्रमा नही है।

इस दृष्टि से स्मृति प्रमा नही है। संशय और भ्रम भी प्रमा नही है क्योंकि इससे भी किसी लक्ष्य की प्राप्ति नही होती। भ्रम और संशय को अप्रमा की कोटि मे रखने का दूसरा कारण भी है। भ्रम अप्रमा इसलिए है कि भ्रम मे जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह वस्तु मिथ्या होती है, अस्तित्व रहित होती है। अत उसे प्राप्त नही किया जा सकता। अत भ्रामक ज्ञान लक्ष्य प्राप्ति मे साधक नही। इस प्रकार प्रमा का अनिवार्य लक्षण बौद्धो के अनुसार यथार्थता भी है।

संशय मे एक ही वस्तु एक ही समय पर अस्तित्ववान और अस्तित्वरहित प्रतीत होती है। ऐसा किसी भी वस्तु के लिए सम्भव नही है। अत ऐसी वस्तु प्राप्त भी नही की जा सकती।

पुन प्रमा का अनिवार्य लक्षण अविसंवादक होना है। यहा अविसंवादी का अर्थ भाट्ट मीमासको से भिन्न है। बौद्धो के अनुसार ज्ञान की वस्तु अगर उस ज्ञान के माध्यम से प्राप्त की जा सके तो ज्ञान अविसंवादी है और वह प्रमा की कोटि मे आ सकता है। जैसे पर्वत पर धूप को देखकर हमे अग्नि का ज्ञान हो रहा है। अग्नि के इस ज्ञान से उस स्थान पर जाकर यथार्थत अग्नि प्राप्त करेंगे। इस प्रकार बौद्ध प्रमा की व्यवहारवादी परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार प्रमा का चरम उद्देश्य अर्थसिद्धि है इसे ध्यान मे रखते हुए प्रमा के दो लक्षण हैं—यथार्थता और अनधिगतता।

परन्तु दोष इस प्रकार की परिभाषा मे भी है। बहुधा वस्तुए अस्तित्व मे आती हैं और शेष हो जाती हैं या हमारे लिए इनका कोई व्यवहारिक महत्त्व नहीं होता।[83] यथा—इस समय जल का मुझे ज्ञान हो रहा है परन्तु यह मेरे व्यवहारिक महत्व का नही है क्योंकि मुझे प्यास नही।

पुन कुमारिल ने बौद्धो द्वारा की गई अविसंवादी के अर्थ की आलोचना करते हुए लिखा है कि अगर ज्ञान का उद्देश्य वस्तु को प्राप्त कर लेना ही है और वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् ही यह सिद्ध होता है तो बिजली चमकने मे जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह सदैव असिद्ध रहेगा क्योंकि बिजली की चमक को हम प्राप्त नहीं कर सकते।[84]

परन्तु ये दोनो आक्षेप एक भ्रम पर आधारित है। यह भ्रम "अर्थ-क्रिया समर्थवस्तु प्रमाणकम्" का अर्थ न समझने के कारण हुआ है। अर्थ-क्रिया समर्थ का अर्थ यह नही है कि वैसा ज्ञान जो अर्थ प्राप्ति मे तत्काल साधक हो या यथार्थत साधक हो ही। समर्थ का अर्थ यह है कि अगर उस ज्ञान पर विश्वास करके हम उस वस्तु के प्राप्ति की चेष्टा करें तो वह प्राप्त की जा सके। जल का ज्ञान मुझे हो रहा है और यह प्रमा रूप तभी होगा जबकि प्यास लगने पर यह जल मेरी तृष्णा को शांत कर सके।

दूसरे आक्षेप मे भी कहा गया है कि बिजली की चमक को हम प्राप्त नही कर सकेंगे। परतु प्राप्ति का अर्थ क्या कुमारिल वही समझ रहे हैं जो बौद्ध कह रहे हैं? प्राप्ति का अर्थ मात्र मुट्ठी मे बदकर लेना नही होता। बिजली की चमक का अनुभव करते हैं—वही उसकी प्राप्ति है।

6 जैन-दर्शन

जैन दार्शनिकों ने सम्यक् ज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है

> यथा वस्थिततत्त्वाना सक्षेपाद्विस्तरेण वा।
> यो व बोधस्तामत्राहु सम्यग्ज्ञान मनीषिण ॥

तत्त्वों का उनकी अवस्था के अनुरूप सक्षेप या विस्तार से, जो बोध होता है, उसे ही विद्वान लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं। मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन सग्रह मे इसकी टीका की है —जिस स्वभाव से अथवा रूप म जीवादि पदार्थ व्यवस्थित है उसी रूप मे मोह तथा सशय से रहित होकर उन्हे जानना सम्यक् ज्ञान है।[65] ज्ञान की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट हैं

(क) जिस रूप मे पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप मे जानना प्रमा है।

(ख) वस्तु को मोह से परे अर्थात् पूर्वाग्रह से परे होकर जानना प्रमा है।

(ग) प्रमा म सशय रहित होकर जानना आवश्यक है।

इनमे पहला बिन्दु विचारणीय है। 'जिस रूप में पदार्थ व्यवस्थित है उन्हें उसी रूप मे जानना'—यह तो यहा स्पष्ट हो जाता है कि यह नैयायिको की भाति प्रमा की यथार्थता पर बल देता है। इस प्रकार जैन ज्ञानमीमासा मे प्रमा के व्यवहारवादी पक्ष को ध्यान में रखकर प्रमा की उपर्युक्त तीन उपाधिया बतायी गई हैं।

(इ) प्रमा की उपाधियो मे प्रयुक्त प्रमुख सम्प्रत्यय

विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान की धारणा को स्पष्ट करने मे निम्नलिखित प्रमुख सम्प्रत्यय मिलते हैं जिनके विश्लेषण मे पाश्चात्य दार्शनिको के द्वारा दी गई ज्ञान की धारणा के तुलनात्मक अध्ययन मे सहायता मिल सकती है। हमने यथास्थान परवर्ती अध्यायो मे इसका प्रयास किया है।

(क) यथार्थत्व प्रमा के इस लक्षण की विवेचना मे ही इस समस्या का स्वरूप स्पष्ट होता चला आया है। प्रश्न है कि क्या वस्तुत यथार्थतत्त्व प्रमा का अनावश्यक लक्षण है—जैसाकि गगेशोपाध्याय कहते हैं? किंतु गगेशोपाध्याय द्वारा दी गई प्रमा की परिभाषा से, हम देख आए हैं कि, प्रमा की अनिवार्य उपाधि के रूप मे यथार्थत्व प्रतिष्ठित हो जाता है। लेकिन ध्यातव्य है कि गगेशोपाध्याय यथार्थतत्त्व के लक्षण का खण्डन यथार्थत्व के जिस अर्थ का स्वीकार कर करते हैं उस अर्थ म गगेश की परिभाषा मे यथार्थत्व प्रतिष्ठित नही होता। तब स्पष्टत समस्या यह नही है कि प्रमा की अनिवार्य

उपाधि यथार्थत्व है या नही, समस्या यह है कि यथार्थत्व अपने किस अर्थ मे प्रमा की उपाधि है, और किस अर्थ म प्रमा की उपाधि नही है ? इस समस्या के लिए हमे यथार्थत्व के विभिन्न अर्थों पर, कसौटियो पर ध्यान देना होगा। इस समस्या का विशद् विवेचन तृतीय अध्याय मे करेंगे।

(ख) अनधिगतत्व प्रमा को अनधिगत होना चाहिए। बौद्ध, साख्य, भाट्ट-मीमासक, वेदान्त इसके प्रबल समर्थक हैं। किंतु कुमारिल इसके उग्र विरोधी है। अनधिगतत्व के विरुद्ध उनका सर्वाधिक सफल आक्षेप प्राप्ति को आधार बनाकर होता है जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

किंतु वेदाती स्मृति को इसका अपवाद कहकर कुमारिल के आक्षेप से बच निकलते हैं। अत प्रमा के इस लक्षण के अधिक परीक्षा की और कोई आवश्यकता इस स्वीकृति के बाद शेष नही दिखती कि स्मृति के अतिरिक्त प्रमा की सभी स्थितियो म प्रमा की एक अनिवार्य उपाधि अनधिगतत्व है।

किंतु प्रमा के इस लक्षण के प्रति अधिक सावधान होने की आवश्यकता वेदान्तियो को इसलिए पडती है कि वेदान्ती प्रमा की दूसरी अनिवार्य उपाधि अबाधितत्व कहते है। प्रश्न है कि क्या कोई भी ज्ञान एक ही साथ अनधिगत और अबाधित हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अनधिगत और अबाधित दोनो सप्रत्ययो के और अधिक स्पष्ट विवेचन की आवश्यकता है। इन सम्प्रत्ययो का विश्लेषण अतिम अध्याय मे करेंगे।

(ग) असदिग्धत्व जैन दार्शनिक प्रमा के पूर्वाग्रह-मुक्त, सशयमुक्त, पक्ष की चर्चा करता है। नैयायिक और भाट्ट भी इसकी चर्चा करते हैं। यह प्रमा के विषयिनिष्ठ पक्ष को उजागर करता है। हम देख चुके हैं कि नैयायिको के अनुसार सदेह का अभाव विषयिनिष्ठता मात्र ही नही है। वस्तुत ज्ञान के क्षेत्र म मात्र विषयिनिष्ठता को ओढा नही जा सकता क्योंकि इससे अहमात्र-वाद की उत्पत्ति होती है। परतु इसकी आवश्यकता नकारना भी सभव नही है क्योंकि व्यवहारिक जगत मे प्रमा के लिए प्रमाता भी आवश्यक है और प्रमाता की आवश्यकता स्वीकार करते ही प्रमा की विषयिनिष्ठता से बच पाना असभव हो जाता है।

(घ) कारण बाध दोष रहितत्व इसका अर्थ है कि प्रमा के लिए जो साधन हो, वे साधन दोष रहित हो। यहा दो प्रश्न उठते हैं—प्रमा के साधन क्या हैं और उन्हे दोष रहित कब कहा जा सकता है ? इसकी विशद चर्चा पचम अध्याय म की जायगी।

(ङ) अबाधितत्व पूर्व विवेचन के क्रम मे हम देख आए हैं कि प्रमा का प्रमात्व उसके खण्डन से परे रह जाने म माना गया है। कुछ अन्य दार्शनिको ने प्रमा की अनिवार्य उपाधि के रूप म यथार्थत्व को स्वीकार किया है तथा यथार्थत्व की परिभाषा अबाधित्व के द्वारा दी है। इस प्रकार अबाधितत्व को

लेकर दो प्रश्न उठते हैं

(क) जिस प्रकार सत्यता की व्याख्या के लिए संवाद सिद्धांत, संसक्तता-सिद्धांत आदि अन्य सिद्धान्त हैं उसी प्रकार अबाधितत्व क्या सत्यता के सम्प्रत्यय की व्याख्या करने वाला कोई एक सिद्धान्त है? या यह स्वतन्त्र रूप से प्रमा की कोई उपाधि है?

(ख) अबाधितत्व को लेकर दूसरा प्रश्न यह है कि कब कोई प्रमा अबाधित कह दी जा सकेगी? कितने परीक्षणों के उपरान्त या कितनी अवधि बीत जाने पर हम कह सकेंगे कि अब यह ज्ञान अथवा यह प्रतिज्ञप्ति खण्डन से परे है? अथवा किसी भी ज्ञान अथवा प्रतिज्ञप्ति को अबाधित की संज्ञा पाने के लिए किस कसौटी पर खरा उतरना होगा?

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार सत्यता की धारणा को स्पष्ट करने के क्रम में इन प्रश्नों पर विचार किया जायगा।

००

सन्दर्भ

1 श्वेताश्वतर, 4/10
2 मायां तु प्रकृतिंविद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्—श्वेताश्वतर, 4/10
3 ईशोपनिषद, 9/11
4 ईशावास्योपनिषद, 11
5 वही, 9
6 श्वेताश्वतर, 5/1
7 संयुत्तनिकाय, पठम अस्साद सुत्त (3/3/7/4), महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, 1933
8 वही, द्वितीय अस्साद सुत्त (3/3/7/5)
9 छान्दोग्योपनिषद्, 7/2
10 तैत्तरिय, 2/4
11 श्रीमद्भागवद्गीता, 18/50
12 बोधिचर्यावतारसूत्र, 9/2, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1956
13 वही, 9/2
14 वही, 9/3-4
15 राधाकृष्णन् सर्वपल्लि, भारतीय दर्शन, भाग 1, राजपाल एण्ड सन्स, 1969, पृ० 31, 33

16 केनोपनिषद 2/3
17 छान्दोग्योपनिषद, 6/13
18 भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, भाग 1, पृ० 163
19 संयुत्तनिकाय, अजरसासुत (1/1/6/2)
20 वही, 22/1/4, 3/1/3/2
21 वही, सम्पज्ज सुच (2/1/9/1)
22 बोधिचर्यावतार सूत्र, 9/1
23 संयुत्तनिकाय, भूतमिदमसुच (2/1/4/1)
24 केनोपनिषद 2/3
25 तत्तरिय, 2/1
26 ईशावास्योपनिषद, 9
27 गीता, 4/35
28 वही, 18/21
29 बुद्धि उपलब्धिज्ञानम प्रत्यय इति पर्याय । न्यायकदली, प्रशस्तपाद भाष्यम, निदेशक, अनुसधान सस्थान, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963, प० 171
30 शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दार्शनिक समस्याए, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ० 1
31 शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दार्शनिक समस्याए, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर, 1966, प० 1
32 हास्पस, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प० 145 167
33 ' अज्ञानाने यदि ज्ञान काष्ठ ज्ञान प्रसज्यते," बोधिचर्यावतार सूत्र, 9/62
34 भट्ट, गोवधन प्रसाद, एपिस्टेमोलॉजी आफ दि भट्टा स्कूल ऑफ पूर्वमीमासा, चौखम्भा सस्कृत सीरीज आफिस, 1962, पृ० 73
35 "प्रमाकरण प्रमाण।"
36 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि प्रोब्लेम आफ फिलासफी, युनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, 1964, प० 59 63
37 प्राइस, एच०एच०, सम कन्सिडरेशन एबाउट बिलीफ, ग्रीफिथ, ए०पी०, सम्पादित पुस्तक नॉलेज एड बिलीफ मे प्रकाशित, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटि प्रेस, लन्दन, 1932, पृ० 4, दत्त, धीरेन्द्र मोहन, सिक्स वेज आफ नोइंग, कलकत्ता युनिवर्सिटि, 1972, प० 19।
38 राधाकृष्णन स०, भारतीय दर्शन, भाग 2, प० 261
39 सांख्य प्रवचन भाष्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1978, 1 87

40 सांख्यकारिका, 1963, 3/20
41 साख्य प्रवचनभाष्य 1 66
42 सांख्यकारिका, 4/4, "असदिग्धाविपरीतानधिगतविषया-चित्तवृत्तिः"-सांख्यतत्व कौमुदी विभूषा, स्वामी आत्मस्वरूप गुरुजी मण्डल, हरिद्वार, 1930, पृ० 172
43 असन्निकृष्टाथ परिच्छवि प्रमा", सांख्यदर्शनम, श्रीमं महादेव वेदान्तिकृतेन वत्तिसाख्य, श्री नागेश भट्ट विनिर्मितया, साख्यसूत्रवृत्या, भारतमनीषा 1973, 1/87
44 वही, 1/114
45 वही, 1/115
46 एपिस्टेमोलॉजी ऑफ दि भट्टा स्कूल आफ पूर्वमीमांसा, पृ० 78
47 वही, प० 78
48 वही, प० 78
49 चटर्जी, एस० सी०, न्याय थ्योरी आफ नॉलेज, सेकेण्ड एडिशन, युनिवर्सिटि ऑफ कलकत्ता, 1950, पृ० 103
50 मध्वाचाय, सवदर्शन संग्रह, अनुवाद, सम्पादन व्याख्या—प्रो० उमाशंकर ऋषि, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, 1964, पृ० 131
51 साख्य दर्शनम 1/87
52 प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्याय —न्याय दर्शनम, वात्स्यायन भाष्य, पृ० 8
53 श्री केशवमिश्र कृत तर्कभाषा, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प० 46
54 अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धि
—जयन्तकृत न्यायमंजरी, चौखम्बा, 1936, प० 12
55 वही, पृ० 22
56 न्यायमंजरी, प० 171-172
57 चटर्जी एस०सी०, न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज, प० 21
58 यथार्थानुभव प्रमा—तर्कभाषा, प० 14
59 वात्स्यायन भाष्य न्यायसूत्र, 2/1/36
60 न्यायदर्शनम, वात्स्यायन भाष्य, पृ० 3
61 गंगेशोपाध्याय विरचित तत्वचिंतामणि,, प्रामाण्यवादान्त प्रथम खण्ड, मिथिला विद्यापीठ, 1957, पृ० 217
62 ज्ञान घटत्वादिना यथा शब्दार्थसादृश्याभावात —वही, पृ० 210
63 शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० 53
64 श्लोकवार्तिका, 2/80
65 निराकृतपु सर्वेपु धर्मो नास्तीति शक्यते
प्रमाण चोदना तत्र भवीत्यौत्पत्तिकादिना ॥—पूर्वमीमांसा सूत्र, 1/1/5

66 कारणदोपबाधकज्ञान रहितमगृहीतग्रा हिज्ञान प्रमाणम, शास्त्र दीपिका, चौखम्बा, 1917, पृ० 45
67 पाथसारथी कृत न्यायरत्नमाला, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडौदा, प० 35
68 शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दाशनिक समस्याए, पृ० 40
69 पाथसारथी, शास्त्रदीपिका, चौखम्बा, 1903, पृ० 45 46
70 झा, गगानाथ, दि प्रभाकर स्कूल ऑफ पूवमीमासा, इडियन थॉट, इलाहाबाद, 1911, पृ० 20-33
71 अनुभूति प्रमाण सा स्मृतेरन्या स्मृति पुन पूवविज्ञानसस्कारमात्रज ज्ञानमुच्यते, शालिकनाथ, प्रकरण पचिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, 1961, पृ० 127
72 यह मत प्राभाकरो का ही है और वस्तुत मात्र अनुभूति को वैध मानने पर इस प्रकार का वास्तववाद भी विवाद का विषय बनता है (विशेष विवरण के लिए दाशनिक विश्लेषण परिचय, जान हास्पस, पृ० 739 से 753 देखें)
73 पाथसारथी, शास्त्र दीपिका, प० 45
74 भारतीय दाशनिक समस्याए, पृ० 40
75 शर्मा, न दकिशोर, भारतीय दाशनिक समस्याए, पृ० 41
76 वही, पृ० 41
77 तत्र स्मृति व्यावत प्रमात्व अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वम, धमराजाध्वरीन्द्र, हिन्दीवेदान्त परिभाषा, अनुवाद एव टीका, गजाननशास्त्री मुसलगावकर, चौखम्बा, 1963, प० 8
78 स्मृतिसाधारणत्वाबाधित विषयज्ञानत्व, वही, पृ० 8
79 भट्ट गोवधन प्रसाद, एपिस्टोमोलोजी ऑफ दि भटट स्कूल ऑफ पूवमीमासा, पृ० 79
80 वेदान्त परिभाषा, गजानन शास्त्रीकृत अनुवाद, प० 16
81 अनधिगतविषय प्रमाणम, धमोत्तराचाय, न्यायबिन्दु टीका, चौखम्बा, 1954, पृ० 3
82 अथक्रियासमथ वस्तु प्रदशक सम्यग्ज्ञानम, वही, प० 3
8 भाट्ट उम्बेक तात्पयटीका, मद्रास सस्कृत सीरीज पृ० 14
84 कुमारिल श्लोकवार्तिक, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, 1940 2/76
85 येन स्वभावेन जीवादय पदार्था व्यस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसशयरहितत्वेनावगम सम्यग्ज्ञानम, सवदशन सग्रह, प० 137

००

2
पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान की धारणा

पाश्चात्य ज्ञानमीमांसीय विवेचन के लिए हमने 'नालेज' पद का चयन किया है। शब्द-कोशों में इसका हिन्दी अनुवाद 'ज्ञान' किया जाता है। परन्तु दार्शनिक पदावली में 'नॉलेज' का सटीक अनुवाद ज्ञान में नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि प्रथम अध्याय में हमने देखा कि नॉलेज और 'ज्ञान' पद के अर्थ और प्रयोग में पाश्चात्य और प्राच्य-दर्शन में आधारभूत भेद हैं। 'नॉलेज' पद के संदर्भ में सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता।[1] 'ट्रू नालेज' एक पुनरुक्ति और 'फाल्स नालेज' एक स्वतोव्याघाती पद है।[2] परन्तु भारतीय दार्शनिक ज्ञान के संदर्भ में सत्यता-असत्यता का प्रश्न उठाते हैं। सामान्यतः भारतीय दर्शन में सत्य होना ज्ञान की वैधता की एक अनिवार्य उपाधि है। वैध ज्ञान को 'प्रमा' और अवैध ज्ञान को 'अप्रमा' कहा गया है। इस दृष्टि से बहुधा 'नालेज' पद को प्रमा पद के समानार्थक समझा गया है।[3]

परन्तु 'नॉलेज' पद का प्रमा में सदैव अनुवाद करने में थोड़ी कठिनाई होती है। क्योंकि प्राभाकरों ने प्रमा के लिए यथार्थता की माँग को नकार दिया है। जबकि 'नॉलेज' पद सदैव सत्यता को समाहित करता है। इस समस्त विवाद पर हम बाद में विचार करेंगे, अभी विषयान्तर से बचने के लिये हम 'नॉलेज' पद के प्रचलित हिन्दी अनुवाद 'ज्ञान' पद से अपना काम चलाएंगे। जिसके क्रिया पद के लिए 'जानना' का प्रयोग होता है।

ज्ञान के संबंध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञान क्या है? अथवा कब हम कुछ जानने का दावा कर सकते हैं? इसके लिये हम 'जानना' शब्द के विविध प्रयोगों पर ध्यान देना होगा।

(अ) 'जानना' शब्द के विविध प्रयोग

'जानना' शब्द का हम एकाधिक अर्थों में प्रयोग करते हैं, इसके मुख्य तीन प्रयोग निम्नलिखित हैं—

(क) "मैं राम को जानता हूँ"—यहाँ 'जानना' शब्द का प्रयोग परिचय

के अर्थ में हुआ है। हम किसी तथ्य से, किसी वस्तु से या व्यक्ति से परिचित हो सकते हैं। इस अर्थ में 'जानना' शब्द अस्पष्ट हो जाता है। एक उदाहरण लें—मैं हिन्दमहासागर से परिचित हू—यह प्रतिज्ञप्ति कोई भी व्यक्ति दो स्थितियों में दे सकता है। पहला तो यह कि वह किताबों में पढ़कर और नक्शे में देखकर हिन्दमहासागर के बारे में जानता हो, परन्तु जब वह जहाज से हिन्द महासागर के ऊपर उडान भर रहा हो तब वह यह न पहचान सके कि यही हिन्द महासागर है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि कोई व्यक्ति हिन्दमहासागर के बारे में कोई भी प्रतिज्ञप्ति न बता सके परन्तु हिन्द महासागर पर उडान भरते हुए पहचान जाय कि यही हिन्द महासागर है। इस प्रकार 'परिचय' के दो अर्थ हो सकते हैं—

1 वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्धित किसी प्रतिज्ञप्ति या प्रतिज्ञप्तियों को सत्य जानना।

2 वस्तु या व्यक्ति को पहचान लेना।

पहले अर्थ में 'जानना' का प्रयोग प्रतिज्ञप्ति को जानने के अर्थ में किया जाता है, दूसरे अर्थ में 'जानना' का अर्थ क्षमता से है।

(ख) "मैं तैरना जानता हू"—'जानना' का यह प्रयोग निश्चय ही परिचय जानने वाले प्रयोग से भिन्न है। यहा 'जानना' का अर्थ क्षमता है। राईल ने इसी अर्थ में जानना को क्षमता सूचक क्रिया[4] कहा है। यहा जानने का अर्थ अपनी क्षमता का परिचय देना है। 'मैं तैरना जानता हू' कहने में यह निहित नहीं है कि मैं तैरने के बारे में कोई तथ्य जानता हू। 'मैं तैरना जानता हू' का अर्थ है अगर अवसर आए तो मैं तैर सकता हू।

इस अर्थ में 'जानना' तथ्य जानने से भिन्न है। कोई बहुत अच्छा तैराक तैरने की क्रिया के बारे में एक भी शब्द सम्भवत न बता सके, वह जो कुछ बताए वह तैरने की क्षमता के लिये पर्याप्त नहीं भी हो सकता है। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि कोई व्यक्ति तैराकी पर मोटी सी पुस्तक लिख दे पर उसे तैरना न आता हो।

(ग) 'मैं जानता हू कि पानी सौ डिग्री सेल्सियस पर उबलता है'—यहा 'जानना' प्रतिज्ञप्ति को जानने के सदर्भ में आया है।

हॉस्पर्स ने ज्ञानमीमासा की दृष्टि से 'जानना' के इसी प्रयोग को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया है।[5] क्योकि समस्त ज्ञानमीमासीय विवेचन या समस्त ज्ञान ही प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त किया जाता है। अत ज्ञानमीमासा का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हम कब किसी प्रतिज्ञप्ति को जानते हैं? अथवा, हमारा यह दावा कि मैं किसी प्रतिज्ञप्ति 'प' को जानता हू,' कब वैध होता है।

(आ) जानने की सभी स्थितियों में सामान्य

'जानना' शब्द के तीन प्रचलित प्रयोग हमने देखे। सम्भव है कि इनके अर्थों की विविधता

के कारण ही इनसे सबधित दाशनिक समस्याए ऐसी दीख पडती हो कि उनका हल निकालना ही कठिन जान पडता हो।[6] अत यह देखना अनिवार्य है कि जिन स्थितियो म हम जानना' शब्द का प्रयोग करते है उनमे वस्तुत कुछ सामा य है अथवा नहीं ? अगर कुछ सामा य है तो वह क्या है ?

वूजले ने 'जानना' पद के मुख्यत दो अथ बताए—परिचित होना और तथ्य जानना।[7] वूजले ने इन दोनो को ही जानने की स्थितियो के अ तगत रखा पर तु उनमे प्राकारिक भेद बताया। वूजले के अनुसार यह अग्रेजी भाषा की सीमाबद्धता है कि यहा दोनो स्थितियो के लिए एक ही प्रकार का शब्द 'नो' का प्रयोग किया जाता है जबकि इन दोनो मे प्राकारिक भेद है। अ य भाषाओ म यथा फ्रेंच इटालियन और जमन मे इनके लिए क्रमश 'कोनेत्र' और 'सव्वार, 'कोनोशर' और 'सोपेरे' 'केनेन' और 'विस्सेन'—शब्द युग्मो का प्रयोग होता है।

वूजले की परिगणना मे कुछ अस्पष्टता है। एक स्थान पर तो वूजले कहते है कि दोनो स्थितियो के लिये दो प्रकार के पदो का प्रयोग होना चाहिए क्योकि इनमे प्राकारिक भेद है, पर तु तत्काल वूजले यह भी कह देते हैं कि परिचय और तथ्य जानना ज्ञान के ही रूप हैं,[8] अर्थात् दोनो मे समानता है। यहा यह स्पष्टीकरण अपेक्षित था कि दोनो स्थितियो मे समानता क्या है जिससे दोनो को ही ज्ञान के अ तगत रखा जाय और क्या भेद है जिसके कारण दोनो मे प्राकारिक अतर बताया जा रहा है। वूजले यह स्पष्ट नही करते। सम्भवत वूजले की समस्या का स्पष्टीकरण हमे विटगेंस्टाईन से मिले।

विटगेंस्टाईन ने कहा है कि अनेक बार बहुत-सी दाशनिक परेशानिया इसलिये होती है कि हम ऐसा मानकर चलते हैं कि उन सभी वस्तुस्थितिया अथवा घटनाआ मे एक काई ऐसा सामा य गुण होना चाहिए जिसके आधार पर हम एक ही शब्द का प्रयाग उन सबके लिये करते हैं। विटगेंस्टाईन के अनुसार ऐसी धारणा भ्रामक है क्योकि यह सवथा सम्भव है कि कोई भी एक गुण उन सब म समान न हो। वे विभि न गुणो के वितरण से समानता का एक उलझा हुआ जाल[9] बनाती हो। विटगेंस्टाईन ने अपने कथन की स्पष्टता के लिये खेल शब्द का उदाहरण लिया है। उनके अनुसार हम कभी नही बता सकते कि जिन सभी स्थितियो मे हम खेल शब्द का प्रयोग करते हैं उनमे सामा य क्या है। क्योकि इनमे कुछ भी सामा य नही है।[10] कि तु एक ही परिवार के विभि न सदस्यो की तरह वे समान प्रतीत होते हैं।

पर तु एयर न विटगेंस्टाईन के मत का खण्डन किया है कि यह सम्भव ही नही कि उनके बीच समानता हो पर तु कोई भी तथ्य सामा य नही हो।[11] खेल शब्द के विभि न प्रयोगों के बीच सामा य क्या है—यह बता सकना सभव नही है, इससे यह तथ्य निगमित नही होता कि उनके बीच कुछ समा य है ही नही। वस्तुत उनके बीच किसी तथ्य को सामा य न बता पाना और उनके बीच किसी समा य तथ्य का न होना—दोनो दो बातें हैं। पहली कठिनाई भाषागत है दूसरा अभाव तथ्यगत है। विटगेंस्टाईन भाषागत कठि-

नाई के आधार पर तथ्यगत अभाव को निगमित करते हैं, जो अवैध है।

वस्तुत जानने की जिन स्थितियों की हम चर्चा कर रहे हैं उनके बीच की समानता को दिखा पाना भी सहज है। परिचय के अथ मे जानने के दो अथ हम देख चुके हैं, प्रतिज्ञप्ति जानना और पहचान लेना। जब परिचित होने मे हमारा अभिप्राय किसी प्रतिज्ञप्ति या कि ही प्रतिज्ञप्तियो को सत्य जानना होता है तो निश्चय ही हम जानने के उस अथ की बात करते हैं जिसकी बात प्रतिज्ञप्ति को सत्य जानने के सदम मे की जाती है। अगर परिचय का अथ पहचानना है तो यह एक प्रकार की क्षमता है। इस अर्थ मे परिचित होने पर हम क्षमता वाले अथ के निकट जाते हैं।

पर तु क्षमता के अथ मे जानना भी प्रतिज्ञप्ति जानने से भि न नही है। राम को देखकर पहचान लेना तभी सभव है जबकि हम राम के बारे मे कोई न कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य जानते हो। वस्तुत हम सिफ उसे ही पहचान सकते हैं जिसके बारे म पहले हमने कभी कुछ सुना, देखा या जाना हो। उदाहरणाथ, हम रास्ते चलते एक व्यक्ति को देखकर उससे सवथा अपरिचित होते हुए भी यह पहचान लेते हैं कि वह राम है, तो इतना स्पष्ट है कि हम राम के बारे मे जरूर कुछ जानते हैं। यद्यपि यह परिचय की स्थिति नही है। पर तु शब्द प्रयोग के साथ ही यह स्पष्ट होता है कि हम उस शब्द से परिचित हैं। अब अगर किसी अपरिचित व्यक्ति या वस्तु के लिए उस परिचित शब्द का प्रयोग हम करते हैं और यह प्रयोग ठीक होता है तब भी यह उस वस्तु, व्यक्ति या तथ्य को पहचानने की ठीक ठीक स्थिति तभी उपस्थित होती है जबकि उस वस्तु, व्यक्ति या तथ्य के बारे मे कोई प्रतिज्ञप्ति जाने अ यथा वह स्थिति एक सफल या असफल अटकल की होती है।

यही बात क्षमतापूवक अ य क्रियाओ के बारे मे भी कही जा सकती है। जसे कि कोई व्यक्ति सायकिल चलाना जानता है तो वह भले ही उसे अभिव्यक्त कर सके या न कर सके वह इतना जानता है कि यहा बलस बनाये रखना जरूरी है या पडल को उपर नीचे करना होगा, या हैण्डिल सीधी रखनी होगी।

प्रतिज्ञप्ति के अथ मे जानने के लिये भी तथ्य जानना अनिवाय है। क्योकि प्रतिज्ञप्ति सदैव किसी सम्भव या यथाथ तथ्य का इगित करती है। इस प्रकार जानने की इन सभी स्थितियो म तथ्य जानना एक सामा य तथ्य है। पर तु किसी व्यक्ति का यह दावा कि मैं किसी तथ्य को जानता हू कब वैध होता है? वस्तुत तथ्य जैसा है क्या बिलकुल वैसा ही हम उसे जानते हैं? क्या हमारे ज्ञान की विषय वस्तु के अतिरिक्त भी तथ्य की स्वतत्र रूप से वस्तुजगत् म कोई सत्ता है? क्या हमारे ज्ञान स स्वतत्र वस्तु जगत की कोई सत्ता है? ये सारे प्रश्न तत्वमीमासीय हैं। ज्ञानमीमासा की दष्टि से यही प्रश्न सवाधिक महत्त्वपूण होता है कि कब मेरा यह दावा वैध होता है कि मैं किसी प्रतिज्ञप्ति प को जानता [redacted]। क्योकि समस्त ज्ञान प्रतिज्ञप्तियो मे ही व्यक्त किया जाता है, अत यहा प्रतिज्ञप्तियो को जानना ही सवाधिक महत्त्वपूण है। इसके लिए हम यह

देखना होगा कि किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने की अनिवार्य और पर्याप्त उपाधियाँ कौन-कौन सी हैं ?

(इ) जानने की उपाधियाँ

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने थियेटेटस के सवाद मे इस प्रश्न को उठाया है। प्लेटो का विवाद अन्तत इस बिन्दु पर पहुचता है कि सत्य विश्वास मे कौन सी ऐसी चीज जुडती है जो उसे ज्ञान की सज्ञा प्रदान करती है ?[12]

समसामयिक पाश्चात्य दार्शनिको मे बर्ट्रेन्ड रसेल, ए० जे० एयर, ए० डी० वूजले और आर० एम० चिज्म ने इस प्रश्न पर विशद विवेचना प्रस्तुत की है। हम क्रमश इनके मत की सक्षिप्त चर्चा करेंगे।

1 रसेल का मत

रसेल ने जानना को एक प्रकार का सत्य विश्वास कहा है।[13] रसेल के अनुसार जानने की दो अनिवार्य उपाधिया निम्नलिखित हैं

(i) प्रतिज्ञप्ति सत्य हो, और

(ii) प्रतिज्ञप्ति की सत्यता मे विश्वास हो।

परन्तु ये उपाधिया पर्याप्त नही हैं। रसेल इस पर्याप्त उपाधि की खोज करते हुए ज्ञान सम्बन्धी निम्नलिखित तीन परम्परागत मतो का परीक्षण करते हैं

(क) जानना स्वत प्रामाण्य है (देकार्त का मत)।

(ख) जानना एक प्रकार का सत्य विश्वास है, जो विश्वास के एक बडे तन्त्र मे ससक्त रहता है (जानना का ससक्तता सिद्धांत)।

(ग) जानना वह है जिसके द्वारा सफल क्रियाए सपादित की जा सकें (जानना का उपयोगितावादी सिद्धात।)

रसेल इन मतो को अनुपयुक्त प्रमाणित करते हैं और जानने की एक तीसरी उपाधि बताते हैं

(iii) सत्य विश्वास के पक्ष मे प्रमाण हो।

परन्तु रसेल इस तीसरी उपाधि को धपले से भरा बताते हैं। इस स्वीकारोक्ति के साथ कि जानने की कोई भी निश्चित और भ्रामकता रहित परिभाषा नही बनायी जा सकती, रसेल जानना का एक मात्रामूलक अर्थ निर्धारित करते हैं।[14] [illegible] जानना मात्रामूलक इस अर्थ मे है कि जानने का दावा कभी विशुद्ध निश्चित नहीं हो सकता। इस दावे के अधिकाधिक सम्भाव्य होने की बात की जा सकती है।[15] इस सम्भाव्यता का उच्चतम बिन्दु प्रत्यक्ष के तथ्यो मे पाया जाता है और [illegible] सम्भावना स्मृति के तथ्यो मे पायी जाती है।[16]

2 एयर का मत

ए० जे० एयर जानने की तीन उपाधियो की चर्चा करते हैं [17]

(क) प्रतिज्ञप्ति को सत्य होना चाहिए,
(ख) प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास होना चाहिए, और
(ग) विश्वास अधिकृत होना चाहिए।

विश्वास के अधिकृत होने का स्पष्टीकरण एयर विभिन्न प्रकार से करते हैं। जसे तकशास्त्र और गणित की प्रतिज्ञप्तियो पर का विश्वास अधिकृत तब समझा जाएगा जब कि उन प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता को यथ प्रमाणित कर दिया जाय, आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो पर का विश्वास तब अधिकृत समझा जा सकता है जब कुछ प्रत्यक्ष, स्मतिजन्य इत्यादि प्रमाण दे दिये जायें[18] आदि। परन्तु एयर के अनुसार विश्वास के अधिकृत होने की शत मात्र ही ज्ञान की शत है। विश्वास के अधिकृत कहे जाने के ये सारे उपाय जानने की शर्तें नही हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शुभ की परिभाषा मे शुभ का माप दण्ड नही शामिल किया जा सकता।[19]

3 वूजले का मत

रसेल की भाति ही ए० डी० वूजले भी जानना और सत्य विश्वास म मात्रा का भेद मानते हैं।[20] वूजले के अनुसार सत्य विश्वास की निम्नलिखित तीन उपाधिया हैं [21]

(क) प का सत्य होना
(ख) प के उत्तर मे निश्चतता की विभिन्न मात्राओ के साथ हा कहने के लिये तयार होना, और
(ग) प के पक्ष मे कुछ प्रमाण होना।

परन्तु सत्य विश्वास की यह स्थिति जानने की स्थिति नही है। जानने के लिये इन तीन उपाधियो म दो और निम्नलिखित उपाधिया जोडनी पडेंगी

(घ) प्रमाण को सही होना चाहिए, और
(ङ) प्रमाण का निष्कष स सम्ब ध सही होना चाहिए।

4 चिज्म का मत

उपयुक्त स्पष्टीकरण एयर सम्भवत उस सभावना को ध्यान म रखते हुए दना चाहता है जिसे समस्या रूप मे चिज्म ने उठाया है। विश्वास को अधिकृत कहने के जितन भी स्पष्टीकरण एयर देते हैं वे दशन की परम्परागत भाषा म प्रमाण कहे जा सकते हैं। जानने की वैधता की एक शत वूजले भी पर्याप्त प्रमाण्य बताते हैं। वे अपनी परिगणना के प्रारम्भिक बिन्दु पर ही यह प्रश्न उठाते हैं कि 'सत्य विश्वास + पर्याप्त प्रमाण = जानना' —क्या यह समीकरण उचित है ?[23] चिज्म इस समीकरण को

नकारते हैं। चिज्म इसके लिये दो तर्क देते हैं। प्रथमत बहुधा 'सत्य विश्वास पर्याप्त प्रमाण ' जानने की स्थिति नही होती। यथा, कोई व्यक्ति इस कथन पर विश्वास करता है कि चुनाव मे दल क हार जाएगा और इसके लिये उसके पास पर्याप्त प्रमाण भी हैं, यथा महगाई बढ गई है या इस दल ने अब तक कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया, आदि। अब अगर वस्तुत वह दल चुनाव हार जाता है तब भी यह नही कहा जा सकता कि वह व्यक्ति इस प्रतिज्ञप्ति को जानता था।

परन्तु चिज्म की इस आलोचना पर आपत्ति उठाई जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति जिन प्रमाणो को पर्याप्त की सज्ञा दे रहा है, वे प्रमाण पर्याप्त नही हैं। उक्त कथन के लिये जुटाए गये सभी प्रमाण तब तक अपर्याप्त हैं जबतक चुनाव परिणाम घोषित नही हो जाता। या यह कहना चाहिए कि चुनाव परिणाम की घोषणा ही एकमात्र इस कथन की प्रामाणिकता है। परन्तु बहस और भी आगे जारी रखी जा सकती है कि चुनाव परिणाम की घोषणा ही एकमात्र इस कथन का पर्याप्त प्रमाण है --इसका क्या प्रमाण है ? वस्तुत पर्याप्त प्रमाण कहने से हर स्थिति मे यही कठिनाई सामने आती है कि कब किसी प्रमाण को पर्याप्त की सज्ञा देंगे या प्रमाणो की सख्या किस बिन्दु पर पहुच कर पर्याप्त हो जाती है ?[24]

पर्याप्त प्रमाण के सम्बन्ध म चिज्म की दूसरी आपत्ति यह है कि पर्याप्त प्रमाण, जिसे जानने की अनिवार्य उपाधि कहा जा रहा है, स्वत उसकी व्याख्या जानने के सप्रत्यय के बिना नही की जा सकती।[5] इसी प्रकार चिज्म जानने की अनेक परिभाषाओ की परीक्षा कर उन परिभाषाओ को अस्वीकार्य घोषित करते हैं और जानने की निम्नलिखित तीन उपाधिया बताते हैं।[6]

(क) प मे विश्वास होना चाहिए,
(ख) प को सत्य होना चाहिए, और
(ग) प को दोषमुक्त प्रमाणयुक्त होना चाहिए।

(ई) जानने की उपाधियो का सामान्य स्पष्टीकरण

1 प्रथम उपाधि—प मे विश्वास

यह जानना की विषयीगत शर्त है, जो ज्ञाता की अनिवार्यता पर बल देती है। भारतीय दार्शनिक भी ज्ञान का विश्लेषण तीन भागो मे करता है—प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण। भारतीय दार्शनिक प्रमाता के रूप मे आत्मतत्त्व का निरूपण विस्तारपूर्वक करता है परतु पाश्चात्य तर्कनिष्ठ अनुभववादी इस तत्वमीमासीय विवेचन से सहज ही तत्वमीमासा को निरर्थक कहकर अलग हट जाता है। फिर भी जानने की इस विषयीगत शर्त को तर्कनिष्ठ अनुभववादी इस कथन के साथ महत्ता प्रदान करता है कि विश्व मे अनेक घटनाए और वस्तुस्थितिया उपस्थित हैं जिन्हें हम इस उपाधि के अभाव म नही जानते।[27]

क 'प' को जानता है—इसके लिए यह आवश्यक है कि 'प अटकल, जिज्ञासा, सदेह, आदि न हो, वरन 'प' मे विश्वास हो। वस्तुत 'प' को जानने मे ही उसका विश्वास होना निहित है। इस उपाधि के और अधिक स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित चार कथनों की विवेचना की जा सकती है

(क) मैं 'प' को जानता हू पर 'प' मे विश्वास नही करता।
(ख) 'प सत्य है पर मैं उस पर विश्वास नही करता।
(ग) 'प' पर विश्वास है परन्तु प' सत्य नही है।
(घ) 'प' असत्य है पर मैं इस पर विश्वास नही करता।

यहा (क) आत्मव्याघातक कथन है। मैं जानता हू मे ही मैं विश्वास करता हू निहित है। (ख) आत्मव्याघातक नही है। नि सदेह ऐसी असख्य प्रतिज्ञप्तिया सत्य हैं जिन पर लोग विश्वास नही करते। (ग) की स्थिति मे भी कोई आत्मव्याघात उत्पन्न नही होता। 'प' विश्वास का विषय हो सकता है, 'प' का जानने की आवश्यक शत नी 'प पर विश्वास है पर तु 'प पर विश्वास करने के लिए न तो 'प' को जानना ही आवश्यक है, और न तो 'प' का सत्य होना ही।[28] जानने और विश्वास करने म एक बहुत बडा अन्तर यह है कि विश्वास करना जानने की अन्यतम स्थिति है पर विश्वास करने के लिए जानना आवश्यक नही होता। यह जानना कि 'प' सत्य है यह विश्वास करने से भिन्न है कि 'प' सत्य है क्योंकि जानने की स्थिति म 'प का सत्य होना अनिवाय है। किन्तु विश्वास करने की स्थिति मे 'प की सत्यता अनिवाय नही। इस प्रकार (घ) का स्थिति मे भी कोई असगति नही है।

भाषा के अलकारिक प्रयोग के कारण "मैं जानता हू कि पर तु मुझे विश्वास नही होता"—जैसी प्रतिज्ञप्तिया प्रयोग मे लायी जाती हैं। परन्तु इनका अथ होता है कि 'मुझे जानकर आश्चय होता है कि ।' या 'यह जानकारी आश्चयजनक है कि ।'

2 द्वितीय उपाधि—'प' की सत्यता

किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने की एक अनिवाय उपाधि यह भी है कि प्रतिज्ञप्ति को सत्य होना चाहिए। पर तु प्रतिज्ञप्ति कब सत्य होती है? पाश्चात्य दाशनिकों म सवप्रथम अरस्तू ने दशन के क्षेत्र मे वैज्ञानिक पदावली की आवश्यकता अनुभव की। अरस्तू के अनुसार अनेक ऐसे पद दशन मे थे जो या तो अस्पष्ट थे या अनेकाथक थे। सत्य और असत्य भी ऐसे ही पद थे। सत्य पद अनेक अर्थों म व्यक्त किया जाता है। उदाहरणाथ—वह सच्चा मित्र है, यह सच्ची घटना है, यह सत्य है आदि। सत्य के इन समस्त प्रयोगो से इतना स्पष्ट है कि वे सभी एक मापमूलक अथ मे सम्बन्धित हैं। अथात किसी मानक को ध्यान मे रखकर हम किसी मोती या मित्र को सच्चा कहते हैं। इसी प्रकार किसी निणय को सत्य कहने का मानक यह है कि निणय सम्बन्धित तथ्यों के अनुरूप है।

दकातीय तकशास्त्र के प्रणेता आरनाल्ड ने अपनी पुस्तक पोर्ट रायल लाजिक म

कहा कि अपने विषय वस्तु के आधार पर कोई भी प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होता है या असत्य। प्रतिज्ञप्ति की सत्यता इस बात पर निर्भर करती है कि प्रतिज्ञप्ति के आधार पर लिया गया निर्णय सत्य प्रमाणित होता है या असत्य।

विन्डलवाईन्ड के अनुसार सत्यता से सम्बन्धित परम्परागत विचारधारा का विरोध आधुनिक दर्शन मे प्रथमत काट ने किया। काट ने आभासिक और पारमार्थिक जगत की बात की। परन्तु काट ने यह कही नही कहा कि जिसे हम सत्य जानते है वह पारमार्थिक जगत का प्रतिरूप है। जैसा कि अरस्तू ने कहा था कि सत्यता निर्णयो मे पायी जाती है और यह वस्तुओ के अनुरूप होती है काट ने इसके विपरीत कहा कि सत्य हमारे मन के आकारो पर निर्भर करता है। यह उन्ही के अनुरूप होता है, तथ्यो के अनुरूप नही। इस प्रकार सत्य मात्र निर्णयो तक ही सीमित नही वरन् यह सर्वत्र पाया जा सकता है—हमारी मानसिक प्रक्रियाओ के बीच भी।[30]

विन्डलवाईन्ड के इस मत के विरुद्ध फ्रेंच ब्रेन्टानो का मत है कि विन्डलवाईन्ड ने जो कहा वह काट का दर्शन नही विन्डलवाईन्ड का अपना दर्शन है।[31] काट ने स्पष्ट शब्दो मे पारमार्थिक और प्रातिभासिक जगत की बात की और कहा कि वस्तुओ के पारमार्थिक स्वरूप को हम नही जान सकते। यह काट का अज्ञेयवाद है। इस प्रकार यह कहना कि काट के अनुसार सत्यता सर्वत्र पायी जाती है—गलत है। काट ने ज्ञान के क्षेत्र को सीमित कर दिया है और सत्यता की बात भी एक सीमित क्षेत्र मे ही की जा सकती है।

काट के मत की व्याख्या करने का दावा करने वाले इन दोनो मतो की समीक्षा यहा अनपेक्षित होगी क्योकि काट के मत को आधारित कर प्राप्त होने वाला कोई भी निष्कर्ष तर्कसम्मत नही हो सकता। काट पारमार्थिक और प्रातिभासिक सत्ताओ की बात करते है। जिसकी अनिवार्य परिणति अज्ञेयवाद है, जो स्वीकार्य नही है। काट की व्याख्या करने वाले अथवा अरस्तु प्रभृति विद्वानो के मतो के सक्षिप्त परिचय का तात्पर्य यहा सत्यता-सम्बन्धी दो प्रचलित सिद्धान्तो का प्रारम्भ और उनकी प्राचीनता का निरूपण मात्र है। उपर्युक्त आधार पर दो प्रश्न उभरते है कि ज्ञान के क्षेत्र मे सत्यता क्या निर्णयो मे पायी जाती है या निर्णयो की विषय वस्तु मे? इनके उत्तर मे कुछ प्रचलित सिद्धान्त आ जाते है जिनकी विवेचना हम क्रमश करेंगे।

(क) सत्यता का सवाद सिद्धान्त इस मत के अनुसार सत्यता वस्तु और प्रतिज्ञप्ति के बीच का सम्बन्ध है। यह सबध इस प्रकार का है कि कोई भी प्रतिज्ञप्ति सत्य है अगर वह किसी तथ्य से सवाद रखती है। परिभाषा मे दो प्रमुख पद हैं—तथ्य और सवाद। दोनो पदो का अर्थ निरूपण अपेक्षित है।

सवाद क्या है? पहले 'सवाद' शब्द को लें। 'सवाद' शब्द क्या उस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जिस अर्थ मे 'तादात्म्य' शब्द प्रयुक्त होता है? यह आपत्ति प्रथमत डेल्यो ने अरस्तु के इस मत के विरुद्ध उठाई थी कि कोई निर्णय सत्य तब होता है जब तथ्य

के अनुरूप हो। 'अनुरूप' शब्द का अर्थ है ? अगर अनुरूप (अथवा सवाद) शब्द यहा वसे व्यवहृत हैं जैसे कि कहा जाता है राम का चित्र राम के अनुरूप है (अथवा राम से तादात्म्य रखता है) ? प्रो० डेल्यी के अनुसार तथ्य और प्रतिज्ञप्ति के बीच इस प्रकार का सबध असम्भव है।[32] इस समस्या को जॉन हॉस्पर्स ने और भी स्पष्ट किया है कि क्यो प्रतिज्ञप्ति तथ्य की प्रतिच्छवि नही हो सकती।[33]

'सवाद' शब्द का अर्थ एकैक सबध वाला हो सकता है। क्या सत्यता तथ्य और प्रतिज्ञप्ति के बीच उस प्रकार का सबध है जैसा कि लाइब्रेरी मे रखी पुस्तक और उसके लिए निर्धारित कार्ड म होता है ? अगर सत्यता इस प्रकार का सबध है तो कहा जा सकता है कि सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो तथ्य को बतावे। 'सवाद' शब्द को इस अर्थ म प्रयुक्त करने पर एक दोष आ जाता है कि किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने के लिए एकैक सबध आवश्यक हो सकता है पर पर्याप्त नही।[34]

सवाद सिद्धात के समर्थक अपने मत के पक्ष में बहुधा यह कह देते हैं कि सवाद विलक्षण और अविश्लेष्य है। परन्तु किसी भी वस्तु को ऐसा कहने के लिए उसे ऐसा प्रमाणित करना आवश्यक होता है। सवाद सिद्धात के समर्थकों के पास इसे अविश्लेष्य कहने का मात्र यही एक आधार है कि सवाद के जितने भी विश्लेषण दिये गए हैं वे पर्याप्त नही हैं। परन्तु इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि सवाद सिद्धात के समर्थक इसका विश्लेषण नही कर पाये हैं। इसके सवाद शब्द का अविश्लेष्य होना सिद्ध नहीं होता।

तथ्य क्या है ? तथ्य' शब्द के प्रयोग को लेकर सवाद सिद्धात पर आपत्ति की जाती है।[35] 'तथ्य' शब्द का प्रयोग कभी कभी सत्य प्रतिज्ञप्ति के अर्थ मे होता है। 'यह तथ्य है कि यह दीवाल उजली है अर्थात 'यह दीवाल उजली है' यह वाक्य एक सत्य प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है। इस प्रकार सवाद सिद्धात के अनुसार 'सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो तथ्य से सवाद रखे।' अब यदि 'तथ्य' पद को सत्य प्रतिज्ञप्ति से स्थानान्तरित कर दिया जाय तो सवाद सिद्धात के अनुसार यह कहा जायगा कि 'सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो सत्य प्रतिज्ञप्ति से सवाद रखे।' यहा सत्य प्रतिज्ञप्ति की परिभाषा सत्य प्रतिज्ञप्ति के आधार पर होने से परिभाषा मे चक्रक दोष हो जाता है।

कभी कभी 'तथ्य' शब्द का प्रयोग वास्तविक वस्तुस्थिति के अर्थ मे भी किया जाता है। परन्तु तथ्य शब्द का यह अर्थ स्वीकार करने पर हम सत्यता के उस सिद्धात म पहुच जाते हैं जिसके अनुसार सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो वस्तुस्थिति का निर्देश करे। जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे। परन्तु 'तथ्य' शब्द के इस प्रयोग से सवाद सिद्धात का अपना अर्थ गुम जाता है।

(ख) **सत्यता का ससक्तता सिद्धात** सत्यता के परम्परागत सिद्धातो म से पूर्वोक्त सवाद सिद्धात अरस्तु के बाद काट तक समान रूप से लोकप्रिय रहा।[36] काट के पश्चात् रसेल[37], ए० सी० यूइग[38], और सी० डी० ब्राड

इसके समर्थक हुए। ससक्तता सिद्धात समान रूप से लोकप्रिय न हो सका क्योंकि वह ऐसा सिद्धांत है जो ज्ञान मीमासा और तत्वमीमासा के प्रत्यय वादी तत्र का एक भाग होने के कारण नि सग रूप से प्रत्ययवाद से हटकर अपनाया नही जा सकता।[39]

इस सिद्धात के प्रमुख समर्थकों मे ब्रैडले[40], एच० एच० जोआकिन[41], बी० ब्लशर्ड[42] का नाम आता है। इनके अनुसार सत्यता का अर्थ निर्णयो का परस्पर ससक्त होना है। सत्यता निर्णय और निर्णयो के बाहर के किसी वस्तु के बीच का सबध नही हो सकता। सत्यता निर्णयो का ही परस्पर सबद्ध होना है। ब्लशर्ड ने जैसा कि नेचर ऑफ थॉट म ससक्तता सिद्धान्त को प्रस्तुत किया[33], उसके अनुसार विचार का लक्ष्य वास्तविकता के साथ तादात्म्य स्थापित करना है और वास्तविकता एक पूर्ण व्यवस्थाबद्ध तत्र है। यह व्यवस्था इस प्रकार की है कि एक प्रतिज्ञप्ति का दूसरी प्रतिज्ञप्ति से सबध होता है। प्रतिज्ञप्तियो का लक्ष्य इस आदर्श तत्र मे जाकर सलग्न हो जाता है।

ससक्तता का अर्थ इस सिद्धात के समर्थकों ने ससक्तता का अर्थ प्रतिज्ञप्तियो के बीच एक विशेष प्रकार का सबध बतलाया है। किंतु यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह सबध कैसा है? इस सबध के बारे मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है क्योंकि इस सिद्धात के समर्थक बिल्कुल एक भाषा का प्रयोग नहीं करते। ब्लशर्ड प्रभृति विद्वान इसे वह आदर्श बताते हैं जो प्रतिज्ञप्तियो का लक्ष्य है। आदर्श के अर्थ मे ससक्तता प्रतिज्ञप्तियो की समष्टि के अदर रहने वाला सबध है जिससे उस समष्टि की कोई भी प्रतिज्ञप्ति शेष प्रतिज्ञप्तियो के सत्य रहते असत्य नही हो सकती और कोई भी अन्य से स्वतत्र नही होती। अर्थात् ससक्तता इस प्रकार का सम्बन्ध है जिसके रहते कोई भी एक प्रतिज्ञप्ति तत्र की अन्य प्रतिज्ञप्तियो से निगमित होनी है और तत्र की अन्य प्रतिज्ञप्तियो मे अगर कोई भी प्रतिज्ञप्ति असत्य हो तो शेष कोई भी प्रतिज्ञप्ति सत्य नही हो सकती।

परन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने मे कठिनाई है। व्यवहार मे इस प्रकार के ससक्त तत्र का कोई उदाहरण नही मिलता। पहले यूक्लिडिय ज्यामिति के बारे म दावा किया गया था कि वहा यह आदर्श तत्र विद्यमान है पर अब यह दावा भी व्यर्थ हो गया है। वस्तुत पहले ऐसा विश्वास था कि एक प्रमेय से दूसरा प्रमेय दूसरे से तीसरा ससक्त है। अगर बीच का कोई प्रमेय लुप्त है तो अन्य प्रमेयो की जाच से उसे पाया जा सकता है। किंतु कालातर म पाया गया कि ज्यामितीय तत्र के अभ्युपगम, जो पहले इस तत्र से ससक्त समझे जाते थे, असत्य हो सकते हैं। उनम हेर फेर किया जा सकता है। यद्यपि ये अभ्युपगम स्वतत्र हैं तथापि समस्त ज्यामितीय तत्र इस पर आश्रित है।[44]

ससक्तता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए दूसरी बात कही जा सकती है कि ससक्तता प्रतिज्ञप्तियो की परस्पर सगति है। पर यह भी दोषपूर्ण है। जब हम दो प्रतिज्ञप्तियो के बारे म यह कहते हैं कि वे सगत है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वे परस्पर विरुद्ध या एक दूसरे की व्याघातक नही है। दो और दो चार होते हैं,' 'अभी

दिन है,' इन प्रतिज्ञप्तियो मे इस वप मे सगति है कि वे व्याघाती नही है पर ये प्रतिज्ञप्तिया ससक्त नही कही जा सकती हैं। क्योकि ये एक तत्र या एक तारतम्यता का निमाण नही करती हैं।

वस्तुत ससक्तता का अर्थ सगति से अधिक कुछ है। ससक्तता अनुलग्नता का सम्ब ध है। 'अनुलग्न' शब्द म ही प्रतिज्ञप्तिया का व्याघाती न होना भी छिपा है। 'राम मरणशील है,' 'श्याम मरणशील है,' य प्रतिज्ञप्तिया 'सभी मनुष्य मरणशील हैं,' से अनुलग्न प्रतिज्ञप्तिया हैं। ये इस प्रकार एक-दूसरे से सलग्न हैं कि एक दूसरे की सत्यता को पुष्ट करती हैं।

ससक्तता सिद्धात को स्वीकार करने म निम्नलिखित कठिनाईया हैं

यदि ससक्तता अनुलग्नता हो तो भी क्या ससक्तता सिद्धात सत्य का निधारक सिद्धात बन सकता है ? अनुलग्न प्रतिज्ञप्तिया एक दूसरे की सत्यता पुष्ट मात्र करती हैं परन्तु मात्र इस पुष्टि के आधार पर उसे सत्य नही कहा जा सकता है। 'राम कल शाम पाच बजे बोधगया म था'—इस प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनाने वाली इससे अनुलग्न यह प्रतिज्ञप्ति नही है कि 'कल शाम पाच बजे राम विश्वविद्यालय प्रागण मे उपस्थित नही था।' यह प्रथम प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के पक्ष मे प्रमाण भले ही हो सकती है इससे उसकी सत्यता निर्णीत नही हो सकती है। 'राम कल शाम पाच बजे बोधगया म था'—इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता यह वस्तुस्थिति निधारित करती है कि राम कल शाम पाच बजे बोधगया म उपस्थित था।

पुन अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि 'राम कल शाम पाच बजे बोधगया मे उपस्थित था।' इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता बतलाने के लिए निम्न प्रतिज्ञप्तिया दी जा सकती हैं (1) 'राम कल शाम पाच बजे विश्वविद्यालय म नही था', और (2) 'राम को कल शाम पाच बजे से कुछ पहले मैंने बोधगया जाने के माग म देखा था।' तो भी प्रश्न रह जाता है कि प्रतिज्ञप्ति (1) और प्रतिज्ञप्ति (2) की सत्यता का आधार क्या है ? यदि प्रतिज्ञप्ति (1) और प्रतिज्ञप्ति (2) को सत्य बनाने वाली कोई तीसरी प्रतिज्ञप्ति है तो फिर प्रश्न उठगा कि इस तीसरी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का आधार क्या है ? इस प्रकार या तो अनन्तता का दोष आयेगा या चक्रकता का। अत कही न कही अनिवाय रूप से हम ससक्तता सिद्धात को त्यागना होगा और कहना होगा कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता प्रतिज्ञप्तियो से परे किसी बाह्य विश्व मे अस्तित्व रखती है।[45]

यह स्थिति भी सवथा सम्भव है कि प्रतिज्ञप्तियो के दो ऐसे कुलक हो जो अलग-अलग तो ससक्त हो पर एक दूसरे के व्याघाती हो अथवा ससक्त न हो। इस स्थिति म किस कुलक को सत्य माना जाएगा ? निश्चय ही यहा सत्यता का निधारक ससक्तता नही कोई अन्य तथ्य होगा।

प्रतिज्ञप्तियो का ऐसा समूह सम्भव है जो ससक्त होने पर सत्य न हो। ज्यामिति के तत्र परस्पर ससक्त तो हैं पर वस्तु जगत मे उनका अस्तित्व कही नही होता।

(ग) सत्यता का उपयोगितावादी सिद्धांत — पाश्चात्य दर्शन मे उपयोगितावाद के प्रतिपादक के रूप मे विलियम जेम्स तथा एफ० सी० एस० शीलर का नाम आता है। जॉन डिवी का भी उपयोगितावादियों मे नाम लिया जाता है यद्यपि उन्होने कही भी उपयोगितावाद पद का व्यवहार नही किया है किंतु उन्होने स्वीकार किया है कि उसके मत की उपयोगितावादी व्याख्या सम्भव है।[46]

विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक प्रैगमेटिज्म मे लिखा है कि सत्यता प्रत्ययो का गुण है। किसी प्रत्यय के सत्य होने का अर्थ है उसका इन्द्रियानुभव द्वारा सत्यापनीय होना। किंतु जेम्स के इस मत के दोष को सहज ही समझा जा सकता है। विश्व मे अनेक ऐसी घटनाएं हैं जो सत्य या असत्य हैं पर इन्द्रियानुभव से उनकी जाच सभव नही है। यहा अगर यह मान भी लें कि सभी सत्यताओ की जाच हम कर सकते हैं तो भी सत्यापनीयता को सत्यता के मापदण्ड के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, सत्यता के स्वरूप के रूप म नही।[47] पुन, सत्यता के मापदण्ड के रूप म भी सत्यापनीयता को स्वीकार करन म कठिनाई है क्योकि इन्द्रियानुभव क द्वारा किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन तथ्य के सदभ म ही होता है।[48]

शीलर ने सत्यता को उपयोगिता के द्वारा परिभाषित करने की चेष्टा की है। शीलर के अनुसार जो उपयोगी है वह सत्य है किंतु शीलर के मत को स्वीकार करने म कठिनाई है। विश्व म अनेक ऐसे तथ्य हैं जो उपयोगी हैं परतु सत्य नही अथवा सत्य हैं और उपयोगी नही।

जॉन डिवी के अनुसार सत्यता एक प्रकार की प्रामाणिक स्वीकृति है। डिवी के अनुसार जीवन पर्यावरण मे समायोजन के प्रति एक सतत प्रयास है। जैविक रूप मे प्रत्येक जीव की कुछ आतरिक अपेक्षाए होती हैं जिनकी पूर्ति पर्यावरण के आंशिक रूपान्तरण के साथ होती है। किंतु यह सतुष्टि अस्थाई होती है। पुरानी आवश्यकताओ का नवीन आवश्यकताओ के द्वारा स्थानातरण होते रहता है। यही बात बौद्धिकता के सदभ म भी सत्य है। पुराने सदेहो का निराकरण नये विश्वासो और ज्ञान से होता है। किंतु कोई भी विश्वास या ज्ञान हमे शाश्वत रूप से सतुष्ट नही कर पाता। कोई भी ज्ञान सत्य या असत्य एक सीमित अर्थ म होता है। ज्ञान या सत्य इस अर्थ मे एक प्रामाणिक स्वीकृति है जो उचित और नियमित अन्वेषण का परिणाम है।

किंतु डिवी के इस सिद्धात से इतना स्पष्ट होता है कि सत्यता अथवा ज्ञान काम चलाने की एक स्थिति है। डिवी जब यह कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान अथवा विश्वास अथवा सत्य सदेहपूर्ण स्थिति पर किसी प्रामाणिक स्वीकृति की विजय है तथा यह प्रामाणिक स्वीकृति भी शाश्वत नही वरन सतत अन्वेषण का विषय बनती रहती है तो इससे इतना स्पष्ट है कि जब तक कोई ज्ञान काम देता है तब तक वह सत्य है। डिवी के इस सिद्धात को उपयोगितावाद के उस रूप मे स्वीकार किया जा सकता है जिस रूप म जॉन

हॉस्पस उपयोगितावाद को स्वीकार करते हैं कि सत्यता वह है जो काम करती है।[49] 'काम करना' अनेकार्थक पद है और सत्यता के संदर्भ में काम करने का अर्थ है किसी विशेष प्रयोजन या लक्ष्य की प्राप्ति में सफल अथवा संतोषप्रद होना।[50] किंतु किसी भी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना एक बात है और उसका लक्ष्य या प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होना दूसरी बात। वस्तुतः यह कहना कि सत्यता लक्ष्य या प्रयोजन के सिद्धि में सहायक होती है, शीलर के समान यह कहने जैसा है कि सत्यता उपयोगी होती है। किंतु शीलर के इस मत की कठिनाई हम देख चुके हैं।

(घ) सत्यता वह है जो वस्तुस्थिति निर्देश करे: उपर्युक्त तीनों परम्परागत सिद्धांतों की कठिनाईयों को ध्यान में रखकर सत्यता के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि सत्यता वह है जो वस्तुस्थिति का निर्देश करे। यहां यह समझने की भूल न करनी चाहिए कि सत्यता वह है जो वस्तुस्थिति का निर्देश करे का अर्थ यह है कि सत्यता वस्तुस्थिति और प्रतिज्ञप्ति के संबंध पर निर्भर करती है। वस्तुस्थिति और प्रतिज्ञप्ति दोनों का द्वैत सत्यता के इस सिद्धांत के समर्थक स्वीकार नहीं करते।[51] वस्तुतः सत्यता का अर्थ प्रतिज्ञप्ति और वस्तुस्थिति के बीच का संबंध मान लेने पर यह सिद्धांत भी संवाद सिद्धान्त के समकक्ष चला जाएगा और उतना ही भ्रामक होगा जितना कि संवाद सिद्धांत। संवाद सिद्धांत और सत्यता के प्रस्तुत सिद्धान्त में एक मौलिक अंतर यह है कि संवाद सिद्धांत प्रतिज्ञप्ति और वस्तुस्थिति (तथ्य) का द्वैत स्वीकार करता है किंतु सत्यता के इस सिद्धांत के समर्थक इस प्रकार के द्वैत को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिज्ञप्तियों का पृथक अस्तित्व प्रमाणित नहीं। जब प्रतिज्ञप्ति और वस्तुस्थिति का द्वैत ही नहीं तो फिर इनके बीच किसी संबंध की गुंजाइश ही कहां है? प्रतिज्ञप्ति और वाक्य का भेद इसी आधार पर किया जाता है कि प्रतिज्ञप्ति वस्तुस्थिति को प्रकट करता है।[52] 'कलकत्ता पटना से बड़ा है' और 'पटना कलकत्ता से छोटा है'—दोनों ही दो वाक्य हैं पर एक ही प्रतिज्ञप्ति को प्रकट करते हैं। अतः सत्य उसी प्रतिज्ञप्ति को कहें जिसके अनुरूप वस्तुतः कोई वस्तुस्थिति हो। 'रात शिमला में बर्फ पड़ी।' यह प्रतिज्ञप्ति सत्य तभी है जबकि वस्तुतः रात शिमला में बर्फ पड़ी हो।[53]

प्रश्न किया जा सकता है कि वस्तुस्थिति क्या है? वस्तुस्थिति और तथ्य भिन्न नहीं। जैसा कि तथ्य शब्द की व्याख्या के अंतर्गत हम देख चुके हैं कि तथ्य की परिभाषा संभव नहीं बस इसकी प्रयोग निष्ठ परिभाषा दी जा सकती है। बोधगया में तेज लू चलती है यह एक वस्तुस्थिति है। पानी सौ डिग्री सेल्सियस पर उबलता है—यह एक वस्तुस्थिति है आग में ताप है—यह भी एक वस्तुस्थिति है। वस्तुस्थिति के संबंध में यह ज्ञातव्य है कि इसका अस्तित्व भाषा निरपेक्ष है। हम कहें या न कहें यह एक वस्तु-

स्थिति है कि पानी सौ डिग्री सेल्सियस पर उबलता है। परन्तु वस्तुस्थिति भाषा मे बतायी जा सकती है।

सत्यता-सबधी इन सभी सिद्धातो की पाश्चात्य दर्शन मे बडी विशद विवेचना हुई है। हम लोग भारतीय दर्शन की सत्यता-सबधी धारणा पर विचार करने के क्रम मे देखेंगे कि भारतीय दार्शनिको ने भी इस दिशा मे काफी सूक्ष्म विचार किया है। ज्ञान की द्वितीय उपाधि के रूप मे इन सिद्धातो की पृष्ठभूमि मे रसेल, एयर, वूजले और चिज्म के मत की चर्चा हम लोग आगे तृतीय अध्याय म करेंगे।

3 तृतीय उपाधि—'प' की सत्यता मे विश्वास के लिए प्रमाण

जानने की तीसरी उपाधि के सबध मे रसेल, एयर, वूजले और चिज्म के एकमत नही होने की बात की जा सकती है। क्योंकि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता और प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को विश्वास मे जानने की दो अनिवार्य उपाधिया स्वीकार करने के बाद वे अलग अलग प्रकार से तीसरी उपाधि की बात करते है।

इस तीसरी उपाधि को स्पष्ट करने के क्रम म रसेल जानना को मात्रामूलक बताते हैं और उसकी सर्वोच्च मात्रा प्रत्यक्षीकरण के विषयो मे पाते हैं, और उसके बाद स्मृति के तथ्यो मे। परन्तु इसका अर्थ क्या समझा जाए ? क्या यह जानने की तीसरी उपाधि सत्य विश्वास का प्रत्यक्ष समर्थित या स्मृति समर्थित होना है ? और यह कि प्रत्यक्ष और स्मृति के अभाव मे कुछ दूसरे समर्थन भी हम सत्य विश्वास के पक्ष मे जुटाते हैं तो वह सत्य विश्वास जानने का एक अपेक्षाकृत कमजोर दावा होगा। परन्तु अगर रसल के कथन की यह व्याख्या सत्य नही है तो इसकी दूसरी व्याख्या क्या होगी ? और अगर यह व्याख्या सत्य है तो रसेल के कथन को हम सीधे इस भाति क्या न समझने की चेष्टा करें कि जानने की तीसरी उपाधि 'प' के पक्ष मे प्रमाण का होना है क्योंकि ज्ञान मीमासा मे 'प्रमाण' शब्द समर्थन के रूप मे ही आता है।

इसी भाति एयर भी जानने की तीसरी उपाधि सत्य विश्वास का अधिकृत होना[54] बताते हैं। परन्तु अधिकृत का अर्थ क्या है ? एयर इस अधिकार को प्राप्त करने के जो उपाय बताते हैं[55] वे सभी ज्ञानमीमासा मे प्रमाण की कोटि मे ही रखे जाते है।

वूजले सत्य विश्वास मे जिन तीन उपाधियों को जोडते हैं[56] ये तीनो उपाधिया एक शब्द युग्म पर्याप्त प्रमाण के द्वारा परिभाषित कर दी जा सकती हैं। चिज्म बिल्कुल स्पष्टता से तीसरी उपाधि के रूप मे दोषमुक्त प्रमाण को स्वीकार करते हैं।[57]

परन्तु तीसरी उपाधि के रूप मे पर्याप्त प्रमाण या दोषमुक्त को स्वीकार करने के साथ ही कुछ समस्याए सामने आती हैं। सम्भवत जिनसे बचने के लिए रसेल और एयर बिल्कुल स्पष्ट शब्दों म इस उपाधि को स्वीकार नही करते। जानने की उपाधि के रूप मे प्रमाण को स्वीकार करने पर दो प्रकार की समस्याए सामने आती हैं—गुण और परिमाण की दृष्टि से।

प्रमाणो मे परिमाण की दृष्टि से यह प्रश्न मुख्यत सामने आता है कि कितने प्रमाणो के आधार पर प्रमाणों को पर्याप्त' की सज्ञा दी जा सकती है ? यह प्रश्न बहुत उलझाने वाला और अनिर्णीत है।[58] या, किस प्रकार के प्रमाण दोषमुक्त समझे जाए ?

प्रमाणो के गुण की दृष्टि से औपाधिक और अनौपाधिक प्रमाणो की चर्चा की जाती है।[59] क को 'प की सत्यता मे विश्वास करने के लिए दिए जाने वाले प्रमाण औपाधिक तब होते हैं जब वे वैसी कुछ उपाधियो पर आधारित हो जो स्वय अन्य उपाधियो पर आधारित हो। यदि क को प की सत्यता पर विश्वास करने वाले औपाधिक प्रमाण क्ष की उपाधिया $क्ष_1$ हो तो प का ज्ञान क्ष पर और क्ष का ज्ञान $क्ष_1$ पर निर्भर करेगा। इस प्रकार बिना $क्ष_1$ के ज्ञान के क्ष का ज्ञान नही होगा। और बिना क्ष के प का ज्ञान नही होगा। पुन $क्ष_1$ का ज्ञान दूसरी उपाधि $क्ष_2$ पर निर्भर करेगा, $क्ष_2$ का $क्ष_3$ पर । इस प्रकार प्रमाणो के औपाधिक होने से अनवस्था का दोष होता है।[60]

इस विषम स्थिति से बचने के लिए अनौपाधिक प्रमाणों की माग की जा सकती है। अर्थात् वैसे प्रमाण जो अन्य उपाधियो पर आधारित न हो। अनौपाधिक प्रमाण के रूप मे दो प्रकार के प्रमाणो की चर्चा की गई है जो सदेहवादी प्रहार से बचे हैं[61]—इन्द्रिय दत्त और प्रागनुभविक कथन।

इन्द्रिय दत्त के सिद्धान्त को रसेल ने बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रस्तुत किया है और अपने सुविख्यात लेख तर्कनिष्ठ परमाणुवाद (लाजिकल एटोमीज्म) म इसकी विस्तृत व्याख्या की है। रसेल ने अपने वास्तववादी दृष्टिकोण से इन्द्रियदत्त को वास्तविक सत्ता कहा। जबकि अन्य सवृत्तिवादी इन्द्रियदत्त को मानसिक सत्ता कहते हैं। विट्गेंस्टाइन ने अपने प्रारभिक दर्शन मे इन्द्रियदत्त के भाषापरक प्रयोग पर अधिक बल दिया। किन्तु बाद म स्वत उसने इन्द्रियदत्त भाषा का खण्डन किया। तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रिय दत्त' पद दर्शन मे स्वत विवाद विवाद का विषय है। इस विवाद से परे इन्द्रिय दत्त को अनौपाधिक प्रमाण की कोटि मे इस दृष्टि से रखा जा सकता है, जैसाकि सवृतिवादी मानते हैं कि गलती कभी भी इन्द्रिय सवेदन मे नही होती, इन्द्रिय सवेदन पर आधारित अनुमान मे होती है। मुझे टेबुल की प्रतीति हो रही है, यह प्रतीति परक भाषा असत्यता दोषमुक्त है क्योकि यहा अव्यवहित सवेदना[62] की बात की जा रही है। इसमे दोष सम्भव ही नही है।

परन्तु एयर जो इन्द्रियदत्त की वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के झगडे से अलग हटकर[63] इसका भाषापरक उपयोग करने को अधिक उत्सुक जान पडते हैं सवृतिवादियो के निष्कर्ष को अवैध कहते हैं। एयर ने प्रमाणित किया है कि इन कथनो को भी हम इस प्रकार जानते हैं कि ये तथ्यो से सम्बन्धित हैं। इन कथनो का आधार तथ्य है।[64] अगर तथ्य सत्य है तो अनुभूतिया भी सत्य हैं और अगर तथ्य असत्य है तो अनुभूतिया भी असत्य हैं। तथ्य से अनुभूतियो तक पहुचने की कुछ सीढिया और सदेहवादी प्रहार यही पर है कि ये सीढिया वैध नही हैं।[65]

द्वितीयत अगर किसी प्रकार यह मान भी लिया जाए कि ये कथन सदेहवादी प्रहार से सुरक्षित हैं तब भी प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के कथनो का ज्ञान की सज्ञा दी जा सकती है ? आखो के आगे चौकोर भूरे धब्बो को अनुभव करना अलग चीज है और टेबुल का ज्ञान होना अलग चीज है। सवेदन ज्ञान की आवश्यक शत हो सकती है परन्तु सवेदन स्वत ज्ञान या ज्ञान का पर्यायवाची नही हो सकता।[66]

पुन इन्द्रियदत्त वैयक्तिक है और ज्ञान का रूप सावजनिक। अत इन्द्रियदत्त ज्ञान की कोटि मे नही आ सकता।

अनौपाधिक प्रमाण के रूप मे प्रागनुभविक कथनो की चर्चा की जा सकती है। परन्तु ये प्रमाण किसी तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति को प्रमाणित करने म सहायक नही हो सकते। जैसे 'मेरी कलम काली है'—इस तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति का प्रागनुभविक प्रमाण क्या हो सकता है ? वस्तुत आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो को प्रागनुभविक रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा ही न मात्र हास्यास्पद है वरन स्वतो व्याघाती भी है। क्योकि आनुमानिक प्रतिज्ञप्ति की परिभाषा मे ही यह बात है कि वह प्रतिज्ञप्ति जिसे अनुभव के द्वारा (अनुभव से पूव और परे नही) जाना जाए।

इस प्रकार निम्नलिखित बातें सामने आती हैं

(क) प्रागनुभविक कथन आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो के प्रमाण नही हो सकते।

(ख) इन्द्रियदत्त को प्रमाण मानने पर ज्ञान का सावजनिक स्वरूप नष्ट होता है।

(ग) परिमाण की दृष्टि से सारे प्रमाण कभी उपलब्ध नही हो सकते और सारे से कुछ कम प्रमाण उपलब्ध होने पर ज्ञान के क्षेत्र म अनिवायता का दावा किया नही जा सकता।

(उ) पाश्चात्य दशन मे ज्ञान की धारणा मे प्रयुक्त प्रमुख सम्प्रत्यय

(क) विश्वास बिना विश्वास के ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता पर प्रत्येक स्थिति मे विश्वास होने का अथ ज्ञान प्राप्त करना नही है। हमारा विश्वास ज्ञान की कोटि मे आ सकता है ? क्या नि शकता विश्वास है ? अथवा दोनो म भेद है ? इन प्रश्नो पर चतुथ अध्ययन मे स्वतत्र रूप से विचार किया जाएगा।

(ख) सत्यता किसी भी प्रतिज्ञप्ति के ज्ञान के लिए उस प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना अनिवाय है। हमने सत्यता-सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्तो का इस अध्याय मे उल्लेख किया है। किन्तु सत्यता से सम्बन्धित अनेक प्रश्न हैं जिन्हे ततीय अध्याय मे उठाया गया है। इनके आधार पर निष्कष मे भारतीय और पाश्चात्य दशन के अनुसार ज्ञान के स्वरूप को नियत करने मे आधारभूमि मिलती है।

(ग) प्रमाण सत्य विश्वास को ज्ञान की सज्ञा देने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। प्रमाणो से सम्बन्धित समस्याओ पर रसेल, वूजले, एयर और चिज्म के विचारो को पचम अध्याय मे प्रस्तुत किया गया है। इनके विचारो के आधार पर स्पष्टतया ज्ञान के स्वरूप को निधारित करने म सुविधा होगी।

००

सन्दर्भ

1 प्रीचड, एच० ए०, नालेज एण्ड पर्सेप्सन, मैथ्यू एण्ड क० लि०, पृ० 88
2 दत्त धीरेन्द्रमोहन, दि सीक्स वेज ऑफ नोइग, युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1972, पृ० 19
3 वही, प० 20
4 राईल, गिल्बट, दि कसेप्ट ऑफ माइण्ड, हुचिसन एड क० लि०, *1949*, पृ० 133 134
5 हास्पस जॉन, दाशनिक विश्लेषण परिचय, पृ० 209
6 दयाकृष्ण, *ज्ञानमीमासा, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी*, जयपुर, 1973, प० 7
7 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 18।
8 वही, प० 19
9 गिटगेंस्टाईन, एल० फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन, ऑक्सफोड युनिवर्सिटी प्रेस, 1953, प० 166-167
10 एयर ए० जे०, दि प्रोब्लेम्स ऑफ नॉलेज, पेंगुईन बुक्स, 1971, प० 11
11 वही, प० 11
12 दि फिलासफी ऑफ प्लेटा (थियेटेटस), कालटन हाकम, न्यूयाक, 1928, प० 575
13 रसेल बी०, ह्युमन नॉलेज, इटस स्कोप एण्ड लिमीटस, जॉज एलेन एण्ड अनविन लि०, लदन, *1948* प० 170
14 वही, प० 174
15 वही, पृ० 174
16 वही, पृ० 174
17 एयर, ए० जे०, दि प्रोब्लेम्स ऑफ नॉलेज, प० 35
18 वही, पृ० 31
19 वही पृ० 35

20 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 203
21 वही, प० 202
22 वही, पृ० 202
23 चिज्म, आर० एम०, दि थ्यारी ऑफ नॉलेज, प्रेंटिश हॉल ऑफ इण्डिया [illegible] लि०, नई दिल्ली, 1977, पृ० 192
24 हास्पस, जॉन, एन इण्टोडक्शन टू फिलॉसफिकल एनालिसीस, पृ० 147 148
25 चिज्म, आर० एम०, दि थ्योरी ऑफ नॉलेज, प० 103
26 वही, प० 110
27 हॉस्पस, जॉन, एन इट्रोडक्शन टू फिलॉसाफिकल एनालिसीस, प० 145 147
28 रसेल, बी, ह्यू मैन नॉलेज, इटस स्कोप एण्ड लिमीटस, पृ० 170
29 आरनॉल्ड, पोट रायल लॉजिक, अनुवाद थामस स्पेसर बायन्स, भाग-2, अध्याय-3।
30 बेंटानो, फ्रेंज, दि ट्रू एण्ड दि एविडेंस, रुटलेज एण्ड केगनपाल, न्यूयार्क, 1966, प० 10
31 वही, प० 10
32 वही, प० 15
33 हास्पस, जॉन, एन इट्रोडक्शन टू फिलॉसाफिकल एनालिसीस, प० 115-116
34 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 150
35 हॉस्पस, जॉन, एन इण्ट्रोडक्शन टू फिनासफिकल एनालिसीस, प० 115
36 बेंटानो, फ्रेंज, दि ट्रू एण्ड दि एविडेंस, प० 6
37 रसेल, बी, दि प्राब्लेम्स ऑफ फिलासफी, अध्याय 12
38 यूइग, सी० ई०, आइडियालीज्म, अध्याय 5
39 वूजले, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 162
40 ब्रेडले, एफ० एच०, दि प्रिंसपुल्स ऑफ लाजिक एपियरेंस एण्ड रियलिटी अध्याय 15, 24
41 जोकिम, एच० एच०, नेचर आफ ट्रूथ, क्लेरन्डन प्रेस, 1906
42 ब्लशड, बी०, नेचर आफ थाट, जॉज एलन एण्ड अनविन, लदन, 1939
43 वही, पृ० 264
44 वूजले ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 165
45 हास्पस, जॉन, एन इण्ट्रोडक्शन टू फिलासफिकल एनालिसोस, पृ० 117
46 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, पृ० 175
47 वही, प० 177
48 वही, पृ० 178
49 हॉस्पस, जॉन, एन इण्ट्रोडक्शन टू फिलासफिक्ल एनालिसीस, पृ० 117-118
50 वही, पृ० 118

51 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमांसा, परिचय, पृ० 179
52 हॉस्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण, परिचय, पृ० 114
53 वही, पृ० 168
54 एयर, ए०जे०, दि प्राबलेम्स ऑफ नॉलेज, पृ० 31
55 वही, पृ० 31, 32, 35
56 वूजले, ए०डी०, ज्ञानमीमांसा परिचय, प० 202
57 चिज्म, आर० एम०, दि थ्योरी ऑफ नॉलेज, पृ० 110
58 हॉस्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, पृ० 216-219
59 चिज्म आर०एम०, दि थ्योरी ऑफ नॉलेज, अध्याय 2, 3
60 ब्रेन डेविड, दि नेचर ऑफ नॉलेज, प्रोसीडिंग्स आफ एरिस्टोटेलियन सोसायटी, न्यू सीरीज, वाल्यूम 72, पृ० 42
61 हॉस्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण, परिचय, पृ० 231
62 प्राईस, एच०एच०, पर्सेप्सन, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटि प्रेस, लदन, 1922, प० 3
63 एयर, ए० जे०, दि फाउण्डेशन आफ इम्पीरिकल नॉलेज, मैकमिलन, 1971, पृ० 57
64 एयर, ए० जे०, दि प्रोब्लेम्स ऑफ नॉलेज, प० 72
65 वही, प० 75 81
66 हास्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, पृ० 797

००

3

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन में सत्यता की धारणा

प्रारम्भ के अध्याय मे हम लोग देख चुके हैं कि पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार प्रतिज्ञप्तियो को जानने के लिए प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता एक अनिवार्य उपाधि है। किन्तु सत्यता क्या है ? यह कहा पाई जाती है ? प्रतिज्ञप्तियो मे अथवा इसके बाहर ? इसकी जाच क्या है ? इत्यादि प्रश्नो पर पाश्चात्य दार्शनिको मे मतभेद भले हो किंतु इस पर वे एक मत हैं कि 'असत्य ज्ञान' एक स्वतोव्याघाती पद है ?[1]

भारतीय दार्शनिक यथा—सांख्य, न्याय, वेदान्त, जैन, बौद्ध और भाट्ट मीमासक यथार्थता को प्रमा की अनिवार्य उपाधि बताते हैं। इसी आधार पर यहा प्रमा और अप्रमा का भेद प्रस्तुत किया गया है कि प्रमा यथार्थ ज्ञान है तथा अप्रमा यथार्थता से रहित ज्ञान है। यही पर सर्वप्रथम हमे भारतीय और पाश्चात्य दर्शन का भेद स्पष्ट दिखता है कि भारतीय दार्शनिक अयथार्थ ज्ञान को स्वतोव्याघाती नही मानते बल्कि अयथार्थ प्रमा उनके अनुसार स्वतोव्याघाती पद होगा, जबकि पाश्चात्य दार्शनिको के अनुसार अयथार्थ ज्ञान ही स्वतोव्याघाती है। किंतु इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य नॉलिज पद का ठीक-ठीक अनुवाद इसी कारण से ज्ञान न होकर प्रमा है।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य—दोनो ही दर्शनो मे 'जानना' और 'प्रमा' को अनिवार्यत सत्यता से सबधित कर दिया गया है। अतएव इस अध्याय म कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं। जैसे, सत्यता क्या है ? यह कहा पाई जाती है अथवा किसका लक्षण है—प्रतिज्ञप्तियो का या किसी तथ्य का कोई ज्ञान कब सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है ? अर्थात सत्यता की जाच क्या है ?

सत्यता सम्बन्धी इन समस्त प्रश्नो को मूलत निम्न दो श्रेणियो म बाटकर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है

(क) सत्यता क्या है ? अर्थात सत्यता का स्वरूप क्या है ?

(ख) कब कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य कही जाएगी ? अर्थात सत्यता के दावे की जाच क्या है ?

कारण से उसकी प्रामाणिकता भी उत्पन्न होती है। तथा परतःप्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान और उसकी प्रामाणिकता अथवा सत्यता भिन्न-भिन्न कारणो से उत्पन्न होती है।

2 साख्य मत

स्वतःप्रामाण्यवाद का सर्वाधिक दृढ आश्रय साख्य लेते हैं कि ज्ञान की सत्यता और असत्यता दोनो ही स्वतःप्रामाण्य हैं।[4] साख्य स्वतःप्रामाण्यवाद साख्य सत्कार्यवाद और व्यवहारिक ज्ञान की प्रकाशक त्रिगुणात्मक बुद्धि की धारणा की अनिवार्य परिणति है। साख्य सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य बीजरूप मे कारण मे अवश्य उपस्थित रहता है। इसका अनिवार्य परिणाम साख्य ज्ञानमीमासा के क्षेत्र मे यह मत होता है कि अगर ज्ञान सत्य या असत्य है तो वह सत्यता या असत्यता ज्ञान मे ही विद्यमान है कही बाहर नहीं। यह उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतःप्रामाण्यवाद है। ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतःप्रामाण्यवाद त्रिगुणात्मक बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि प्रकृति का रूपान्तरण है अतः बुद्धि मे त्रिगुणात्मक प्रकृति के तीनो गुण सत्य, रजस और तमस उपस्थित हैं। अब व्यवहारतः जो ज्ञान हमे होता है वह बुद्धि की वृत्ति है। अर्थात घट के ज्ञान मे बुद्धि घट का रूप धारण कर लेती है। इस अवस्था म बुद्धि के तीनो गुणो म साम्यावस्था नही होती। अर्थात कभी रजस की, कभी तमस की तो कभी सत्व की प्रधानता होती है। सत्व की प्रधानता होने से ज्ञान सत्य अथवा प्रामाण्य होता है और रजस तथा तमस की प्रधानता की अवस्था म अप्रामाण्य अथवा असत्य। बुद्धि मे प्रकृति के ये तीनो गुण सदैव विद्यमान रहते हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान सदैव प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो होता है।

यही से साख्य की कठिनाई प्रारम्भ होती है। प्रत्येक ज्ञान सदैव प्रामाण्य और अप्रामाण्य होता है—क्या यह सभव है[5] ? क्या प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परस्पर सगति है ? यह प्रश्न प्रामाण्य और अप्रामाण्य के कुछ और अधिक विवेचन की अपेक्षा रखता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य अगर विपरीत हैं तो कुछ स्थितियो मे ये साथ रह सकते हैं। परन्तु अगर व्याघातक हैं तो इनकी सगति सभव नही। अगर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का अनुवाद सत्य और असत्य करते हैं तो सत्य और असत्य के बारे मे यह प्रचलित धारणा है कि दोनो स्वतोव्याघाती है और कोई भी प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य हो सकती है या असत्य। परतु अधिक सावधानीपूर्वक विवेचन करने पर सत्य और असत्य विपरीत भले लगें स्वतोव्याघाती नही प्रतीत होते। अगर असत्य और सत्य स्वतोव्याघाती होते तो एकबार किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य प्रमाणित हो जाने पर स्वतोव्याघात के नियम के अनुसार हम सदैव इस बात के प्रति निश्चित हो जाते कि यह प्रतिज्ञप्ति कभी असत्य नही होगी। उदाहरणार्थ काली बिल्ली का काली नही होना स्वतोव्याघाती है। अतः एक बार काली बिल्ली को स्वीकार करके हम उसके काली नही होने के प्रति निश्चित हो जाते हैं। इसी भांति यदि कुछ जाच के बाद हम यह कलम लाल है की सत्यता स्वीकार कर लेते है और इसके प्रति निश्चित हो जाते हैं कि इसके असत्य होने की कभी

कोई सम्भावना नही है तो तार्किक सत्यता और आनुभविक सत्यता का भेद मिट जाता है। अनुभवत एक बार जिसे हम सत्य स्वीकार करते हैं। बराबर उसके असत्य होने की भी सम्भावना बनी रहती है। यहा जिस सत्य को हम स्वीकार कर रहे हैं वह भी एक सम्भावना है और जिस असत्य के प्रति हम सशकित हैं वह भी एक सम्भावना है और यहा सभावना के रूप म सत्य और असत्य साथ साथ हैं। अत सत्य और असत्य स्वतोव्याघाती नही प्रमाणित होते। साख्य के अनुसार प्रत्येक ज्ञान को साथ साथ प्रमाण्य और अप्रामाण्य स्वीकार करने का अर्थ है कि जब भी किसी ज्ञान को हम सत्य स्वीकार करते हैं तो बराबर उसके असत्य होने की सभावना बनी रहती है। और असत्य स्वीकार करते हैं तो सत्य होने की सभावना बनी रहती। साख्य यह सारी विवेचना व्यावहारिक ज्ञान अथात आनुभविक ज्ञान के सदभ मे प्रस्तुत करते हैं और पाश्चात्य दशन म यह एक स्थापित तथ्य है कि आनुभविक ज्ञान अतिम रूप से सत्य कभी प्रमाणित नही होता, उसके असत्य होने की भी सभावना बनी रहती है।

वस्तुत साख्य की कठिनाई दो अ य बिन्दुओ पर है। प्रथमत साख्य का प्रामाण्यवाद सत्कायवाद पर आधारित है। परतु इस तथ्य से इकार नही किया जा सकता है कि सत्कायवाद की अपनी कठिनाइया हैं[6]। साख्य की कठिनाई का दूसरा बिंदु है—ज्ञान क प्रामाण्य के लिए सत्य का आधार स्वीकार करना। प्रश्न है कि कमे ज्ञान मे सत्य की मात्रा बढाई जाय कि हमारा ज्ञान प्रामाण्य हो? साख्य इसका उत्तर देते हैं—योग साधन द्वारा, क्योकि उनकी मा यता है कि मानव योग साधन द्वारा अपनी बुद्धि को निमल कर अपनी ज्ञानशक्ति इतनी विकसित कर लेता है कि उसका प्रत्येक ज्ञान सत्य ही होता है। परतु यह व्यावहारिक जीवन मे व्यक्ति योग का आश्रय नही लेता जैसा कि याय, बौद्ध आदि प्रमाणित करते हैं। व्यावहारिक जीवन म व्यक्ति प्रामाण्य के अ य उपाय करता है।

3 पूव मीमासा मत

सत्यता को स्वत प्रामाण्य कहनेवालो म दूसरा नाम मीमासको का है। मीमासको म प्रामाकर सभी ज्ञान को प्रमा रूप अर्थात यथाथ ज्ञान कहते हैं। यहा भ्रम का कोई स्थान नही है। प्रामाकरो के अनुसार स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रमा है। क्योकि स्मृति म अनुभूति नही होती। प्रामाकरो के अनुसार प्रमा अनुभूति है और अनुभूति अपने विषय का प्रकाशन स्वय करती है उसम दोष की कोई सम्भावना नही है।

पर तु प्रामाकरो का यह मत उचित नही। रज्जू म सप की अनुभूति म सप क ज्ञान को यथाथ कह दना ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को नष्ट करता है। ज्ञान मीमासीय दृष्टिकोण से अनुभूति और ज्ञान म गहरा भेद है। दोनो को एक कह देना दोषपूण है।

इसी को ध्यान म रखकर प्रामाकरो न ज्ञान के प्रामाण्य को दो दृष्टियो से देखा है—1 ज्ञान की दृष्टि से इस दृष्टि स सभी ज्ञान प्रमा है, तथा 2 व्यवहार की दृष्टि

से इस दृष्टि से व्यवहार अविसवाद या प्रवृत्ति मे सफलता प्रमा का लक्षण है ।[7]

किन्तु इस मत के विषय मे दो प्रकार की आपत्तिया की जा सकती हैं—ज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक अनुभूति को प्रमा कहना एक प्रकार का ज्ञान मीमांसीय दोष है। व्यवहार की दृष्टि से प्रमा का प्रामाण्य प्रवृत्ति सामथ्य पर आधारित करना परत प्रामाण्य है क्योकि यहा ज्ञान की प्रामाणिकता इस ज्ञान से अलग दूसरे तथ्य से जाची जाती है।

मीमामको मे कुमारिल का मत भी सत्यता के सम्बन्ध म स्वत प्रामाण्यवाद तथा असत्यता के सम्बन्ध म परत प्रामाण्यवाद को प्रश्रय देता है।[8] परन्तु कुमारिल और प्रामाण्यवाद की व्याख्या मे भेद है। प्रामाकर भ्रम और यथार्थता के अन्तर को मिटा देता है। परन्तु कुमारिल इस दोष के प्रति सचेत है। उम्वेक ने कुमारिल के प्रामाण्यवाद की विस्तृत व्याख्या की है। कुमारिल न बोधात्मकत्व को प्रामाण्य[9] कहा। बाधात्मकत्व का अथ है विषय का बोध। विषय का बोध प्रमा और अप्रमा (यथा भ्रम) दोनो मे होता है। इस प्रकार इस परिभाषा म भी प्रामाकर की दी हुई परिभाषा का दोष उत्पन्न हो जाता है। अत इस कठिनाई से बचने के लिए उम्वेक ने कुमारिल द्वारा बताय गए प्रामाण्य क लक्षण म एक लक्षण और जोड दिया है—अथ अविसवादित्व।[10] अथ अविसवादित्व का अथ है ज्ञान का अपन परवर्ती ज्ञान द्वारा खण्डित नही होना। इस प्रकार उम्वक प्रामाण्य के सम्बन्ध म स्वत प्रामाण्यवादी और अप्रामाण्य के सम्बन्ध म परत प्रामाण्यवादी हो जाते हैं। अर्थात जब तक वह ज्ञान खडित नही होता तब तक उसे प्रामाण्य के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती है। अपना प्रामाण्य वह स्वय प्रस्तुत करता है। किन्तु अपने खडन के साथ ही वह ज्ञान अप्रामाण्य हो जाता है। और यह खडन किसी अन्य ज्ञान पर निभर करता है।

यही स उम्वेक के विरुद्ध आपत्तिया प्रारम्भ होती हैं। कब किसी ज्ञान को खडित विसवादी कहेंगे? इस क्षण मुझे कलम का ज्ञान हो रहा है, परवर्ती क्षण मे मुझ पुस्तिका का। इसका अथ क्या यह होगा कि कलम का ज्ञान खडित हुआ? अर्थात यह कलम है—क्या यह ज्ञान अप्रामाण्य है? परन्तु इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान अप्रामाण्य होगा क्योकि प्रथम क्षण का कलम का ज्ञान द्वितीय क्षण म पुस्तक के ज्ञान से खडित होता है। द्वितीय क्षण के पुस्तक का ज्ञान तृतीय क्षण के मेज के ज्ञान से खडित होता है। तृतीय क्षण के मेज का ज्ञान चतुथ क्षण के अध्ययन कक्ष के ज्ञान से खडित हो जाता है। शब्दान्तर म हमारे ज्ञान के विषय निरन्तर बदलते रहते हैं। जीवन पयन्त असख्य वस्तुओ के ज्ञान हमे होते हैं। इनम स कोई ज्ञान अन्तिम नही होता। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान अप्रामाण्य है।

सम्भवत कहा जा सकता है कि यहा अविसवाद का अथ समझने म भूल हुई है। अथअविसवाद का अथ है कि एक हो विषय का ज्ञान क्षण के अन्तर से खडित न हो। यथा प्रथम क्षण में अगर रज्जू का ज्ञान हुआ तो द्वितीय क्षण म भी वहा रज्जू का ज्ञान ही अर्थ अविसवाद है। अगर द्वितीय क्षण म वहा सर्प का ज्ञान होता है तो वह अथ विसवाद हुआ।

पुन उम्बेक के मत म यह स्पष्ट नही है कि जब तक ज्ञान खंडित नही होता तब तक क्या वह प्रमा बना रहता है। यदि रज्जू म हम सप का ज्ञान होता है तब प्रारम्भिक क्षणो मे जबतक यह सप है यह ज्ञान यह रज्जु है स खंडित नहीं होता तो यह सप है क्या प्रमा कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त यहा परवर्ती क्षण की अवधि क्या है यह भी स्पष्ट नहीं है। कब यह निश्चित होकर कहा जा सकता है कि इन परवर्ती क्षणो म किसी ज्ञान का खडन न होने के कारण वह प्रमा है।

इस प्रकार प्राभाकरो की जिस भ्रम और यथार्थता के अन्तर को मिटाने वाले दोष से बचने के लिए भाट्ट प्रामाण्य की अलग परिभाषा देते हैं उस दोष स स्वत ग्रस्त हो जाते हैं।

4 वेदान्त मत

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध म वेदान्ती भी मीमासको की ही भाति क्रमश स्वत और परत कहते हैं। किन्तु वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती स्वीकार करते हैं कि प्रमा को अबाधितत्व के द्वारा परिभाषित कर स्वत प्रामाण्यवाद को स्वीकार नहा किया जा सकता है।[11] क्योंकि ज्ञान को बाधि या अबाधित कहने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी। इस दोष को मिटाने के लिए मधुसूदन सरस्वती उम्बेक की भाति सुझाव रखते हैं कि ज्ञान जब तक अबाधित हो, प्रमा होता है। इस रूप म उसका प्रामाण्य स्वत है। कि तु अबाधित होने पर वह अप्रामाण्य हो जाता है और यहां अप्रामाण्य परत है।[12] परन्तु उम्बेक के इस मत की कठिनाइ हम देख चुके हैं।

5 बौद्ध मत

प्रामाण्य अप्रामाण्य के सबध म बौद्धा का मत वेदातियो और मीमासको के विपरीत है। वे अप्रामाण्य को स्वत तथा प्रामाण्य को परत कहते हैं। बौद्धो के अनुसार ज्ञान प्रमा रूप और अप्रमा रूप दोनो होता है। अगर ज्ञान को स्वत प्रामाण्य कहा जाय तो अप्रमा रूप ज्ञान भी प्रामाण्य होगा और प्रमा अप्रमा का भेद मिटेगा। अत प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान का स्वाभाविक लक्षण नही है। किंतु बौद्धो के अनुसार अप्रामाण्य स्वत है क्योंकि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है। अभाव की उत्पत्ति नही हो सकती। अत इसका कारण भी नही है। बौद्ध वेदातियो और मीमासको के इस मत की आलोचना करते हैं कि अप्रामाण्य परत है। बौद्धा के अनुसार अप्रामाण्य को परत कहने का अथ है कि इसका कारण उस ज्ञान के अतिरिक्त कुछ है। किंतु अप्रामाण्य तो निषेधात्मक है और अभाव की उत्पत्ति नही होती। अत इसका कोई कारण नही हो सकता।

प्रामाण्य की ज्ञप्ति की दृष्टि से भी बौद्ध परत प्रामाण्यवाद का समथन करते हैं। उनके अनुसार प्रमा के प्रामाण्य की पुष्टि दो प्रकार होती है—1 प्रवृत्ति सामथ्य और

2 ज्ञानांतर-संवाद द्वारा। प्रवृत्ति सामर्थ्य का अर्थ है प्राप्त ज्ञान के आधार पर कार्य करने पर अपने उद्देश्य में सफल होना। यथा—वह घट है। इसमें प्रवृत्ति सामर्थ्य तब कहा जाएगा जब उसमें जल भरा जा सके। किंतु अनेक ज्ञान ऐसे हैं जिनकी परीक्षा सामर्थ्य के द्वारा नही हो सकता। ऐसे ज्ञान का परीक्षण ज्ञानांतर संवाद से होता है अर्थात् वह ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान से संगति रखता है। यथा—देवदत्त जल लाने नदी पर गया है इसकी पुष्टि इस ज्ञान से होती है कि देवदत्त इस समय यहां नही है।

किंतु बौद्ध मत मे प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति संबंधी दोनो विवेचनों में दोष है। पार्थसारथी बौद्ध के इस मत पर आक्षेप करते हैं कि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है। उनके अनुसार यदि ज्ञान मे अप्रामाण्य स्वतः है तब इस अप्रामाण्य का कभी अंत नही हो सकता। इस ज्ञान का अप्रामाण्य जब हम किसी दूसरे ज्ञान से सिद्ध करने का प्रयास करेंगे तब वह दूसरा ज्ञान भी स्वतः अप्रामाण्य होने के कारण पहले ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नही कर पायगा। प्रामाण्य के ज्ञप्ति के सम्बन्ध में बौद्धों के प्रवृत्ति सामर्थ्य के सिद्धांत की आलोचना करते हुए पार्थसारथी कहते हैं कि विषय के ज्ञान से प्रवृत्ति की सफलता का ज्ञान भिन्न है। यह घट है, यह एक ज्ञान है तथा मैं घट मे पानी लाता हूं यह दूसरा ज्ञान है। प्रथम विषय का ज्ञान द्वितीय विषय के ज्ञान से भिन्न है। अतः दूसरा ज्ञान प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य कैसे सिद्ध कर सकता है?[15]

इसी प्रकार ज्ञानांतर संवाद की आलोचना करते हुए कुमारिल[16] कहते हैं कि यह संवाद या तो दो सजातीय ज्ञान मे होगा या दो विजातीय ज्ञान में। घट के ज्ञान का प्रामाण्य जब मैं बाद में बार बार घट स्पर्श करके या अन्य लोगो के घट स्पर्श से उसकी पुष्टि करके करता हूं तो वह सजातीय संवाद होता है। तथा जब मैं घट के ज्ञान का प्रामाण्य अन्य इंद्रियो द्वारा या अन्य प्रकार के ज्ञान के द्वारा करता हूं तो यह विजातीय संवाद होता है। किंतु जहां तक बाद के सजातीय ज्ञान का प्रश्न है वे भी स्वतः प्रामाण्य न होने मे प्रथम ज्ञान के समान ही अप्रामाण्य होते हैं। अतः सजातीय ज्ञानांतर संवाद से ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नही होता तथा विजातीय ज्ञान उस विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं का ज्ञान कराते हैं। अतः एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध नही करता। कैसे किसी वस्तु के रंग के ज्ञान की पुष्टि उसके आकार के ज्ञान से हो सकती है?

6 न्याय मत

प्रामाण्यवाद और अप्रामाण्यवाद के संबंध में नैयायिको का मत अंशतः बौद्धो की भांति है और अंशतः मीमांसकों तथा वेदांतियो की भांति। नैयायिक बौद्धो की भांति प्रामाण्य को परतः कहते हैं तथा मीमांसको और वेदांतियो की भांति अप्रामाण्य के परतः होने का समर्थन करते हैं। इस प्रकार नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के संबंध में पूर्णतः परतः वाद का समर्थन करते हैं।[17]

नैयायिकों के अनुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनो परतः हैं। ज्ञप्ति की दृष्टि से न्याय परतः प्रामाण्य का अर्थ है कि जिस कारण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है

उम यारण से उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति नही होती। प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य नान के विशिष्ट गुण हैं। ज्ञान की उत्पत्ति का कारण इन्द्रिया स विषय का सम्पक आदि है किंतु इन कारणा स मात्र नान का उदय होता है। वह नान प्रमा रूप भी हो सकता है, अप्रमा रूप भी। ज्ञान की उत्पत्ति म नान के इम सामान्य करण के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट करण भी होते हैं। यथा, रग क ज्ञान म रग स इन्द्रिय का सम्पर्क सामान्य करण है, तथा प्रकाश की उपस्थिति, आंख का दोषग्रस्त न होना, आदि विशिष्ट करण हैं। इन विशिष्ट करणा को नयायिका न गुण और दोष की सज्ञा दी है। नान के प्रमा और अप्रमा रूप होने क लिए विशिष्ट करण ही उत्तरदायी हैं। अगर सामान्य करण के साथ उपस्थित विशिष्ट करण दोष है तो नान अप्रमा है। इस प्रकार नान की उत्पत्ति तथा प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी तत्त्व भिन्न भिन्न हैं।[18]

द्वितीयत नैयायिका के अनुसार अगर ज्ञान के करण और प्रामाण्य के करण को एक माना जाय तो प्रत्येक नान यहा तक कि भ्रम भी प्रामाण्य होगा और अगर नान के करण और अप्रामाण्य क करण को एक माना जाय तो प्रत्येक नान अप्रामाण्य होगा। इस प्रकार प्रामाण्य या अप्रामाण्य को स्वत कहने स प्रमा और अप्रमा का भेद नष्ट होता है।[19]

नैयायिका के अनुसार नाप्ति की दष्टि से भी नान तथा प्रामाण्य दानो भिन्न है। नान की ज्ञाप्ति ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही होती है। परतु नान के प्रामाण्य की नाप्ति उसके अनतर होती है। यथा, पीत वस्तु क नान के साथ ही यह ज्ञात हो जाता है कि वस्तु पीत है इसके प्रामाण्य का ज्ञान कुछ अन तर परीक्षणो की अपेक्षा रखता है।

प्रामाण्य का परीक्षण नयायिका के अनुसार तीन प्रकार से होता है—1 प्रवत्ति सामथ्य, 2 नानातर सवाद तथा 3 गुणवत-कारण नान।[20] परतु इनमे प्रवत्ति सामथ्य ही प्रधान है। नानान्तर सवाद तथा गुणवत कारण नान प्रवृत्ति सामथ्य परीक्षण के सहयोगी हैं।

किंतु हम प्रामाण्य की नाप्ति स सबधित प्रवत्ति सामथ्य और नानान्तर-सवाद के दोष देख चुके हैं। गुणवत-कारण नान का परीक्षण भी सशय मुक्त नहीं है। मान लें, एक दीवाल जो हरे रग की है अधकार मे हमे काली दिखती है और प्रकाश म हरी। यहा हम नान के एक विशिष्ट करण का परीक्षण करें अर्थात यह देखें कि हमे दष्टि दोष नही है। परतु लाखो परीक्षणो के बाद भी तार्किक रूप से असदिग्ध होकर हम नही कह सकेंगे कि हमे दष्टि दाष नही है।

वस्तुत नैयायिक प्रामाण्य अप्रामाण्य की नाप्ति के प्रश्न को अनुमान स सबधित कर दत हैं।[21]

यदि ज्ञान म प्रवत्ति सामथ्य है, तो वह प्रमा है।
इस नान म प्रवृत्ति सामथ्य है।
यह प्रमा है।

किंतु नव्य नैयायिको ने स्पष्ट किया है कि अनुमान मे सदव सशय का स्थान रह ही जाता है।[22] नव्य नैयायिको की आलोचना मे यह कहा जा सकता है कि जिस आधार पर व नयायिको के प्रमा सवधी धारणा की आलोचना करते हैं वह भी एक प्रकार का अनुमान है जिसका रूप निम्नलिखित है

सभी अनुमान म सशय का स्थान रह जाता है।

नयायिको की प्रमा की ज्ञाप्ति सबधी धारणा एक प्रकार का अनुमान है।

नैयायिको की प्रमा सबधी धारणा मे सशय का स्थान रह जाता है।

किंतु नव्य नैयायिको ने जिस आधार पर नैयायिको के मत का खडन किया है वह अनुमान भी सशयपूण है। अथवा इस अनुमान के सशयपूण नही होने की स्थिति मे इस अनुमान का व्याप्ति ज्ञान मिथ्या है। अत मिथ्या व्याप्ति पर आधारित होने के कारण यह निष्कप पुन अवध है।

वस्तुत अनुमान को सामा य रूप से सशयपूण कह देने की समस्या व्याप्ति की समस्या से जुडी है। शब्दा तर म यह आगमन की प्रसिद्ध समस्या है। जिसका उत्तर व्यावहारिक ज्ञान की उपयोगिता और आगमन के व्यावहारिक महत्त्व को समझा कर ही दिया जा सकता है। किंतु अगर हम अनुमान की पुष्टि के लिए आगमन के व्यावहारिक महत्त्व की बात कर सकते है तो नैयायिको की प्रामाण्य सम्ब धी समस्या के सदभ मे भी हम व्यावहारिक महत्त्व को स्वीकारना होगा।

वस्तुत परत प्रामाण्यवाद के विरुद्ध आपत्तिया हैं। उनम से कुछ मे तार्किक सगति भी है। किंतु हम तर्किक अनिवायता और व्यावहारिक उपयोगिता के अतर को स्वीकार करना होगा। आनुभविक ज्ञान और तार्किक ज्ञान दोनो दो प्रकार के ज्ञान हैं। एक वस्तु जगत से सम्ब धित है दूसरा प्रत्यय जगत से। वस्तु जगत की कठिनाइया का समाधान हम प्रत्यय जगत म खोजने की चेष्टा ही क्यो करें ?

आनुभविक समस्याओ का समाधान तार्किक आधार पर नही किया जा सकता और न किसी आनुभविक सत्य का निराकरण ही प्रत्ययात्मक जगत मे उसका मिथ्यात्व दिखाकर किया जा सकता है। बिना प्रामाण्य अथवा सत्यता ज्ञाप्ति और उत्पत्ति की दृष्टि से परत है अथवा स्वत इस समस्या का अतिम समाधान प्रस्तुत किए बिना भी हम अपनी विवेचना के पथ पर आगे बढ सकते हैं। वस्तुत तत्काल हमारा उद्देश्य स्वत और परत प्रामाण्यवाद म से सगतवाद को ढूढना न होकर स्वत और परत प्रामाण्यवाद का विश्लेपण करना है ताकि हम आगे देख सकें कि सत्यता सम्ब धी इस भारतीय मत और पाश्चात्य मत मे क्या सम्ब ध है ?

(आ) पाश्चात्य दशन में सत्यता की धारणा

प्रारम्भ मे हम देख चुके हैं कि ज्ञान मीमासा म सत्यता की बात प्रतिज्ञप्तिया के सदभ म उठायी गई है। अर्थात् हमारी समस्या प्रतिज्ञप्ति की सत्यता से सम्ब धित है। हम यह

भी देख चुके हैं कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता से सम्बन्धित दो प्रश्न प्रमुख हैं

(i) सत्यता क्या है? अर्थात कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य या असत्य क्यों होती है? यह प्रश्न प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के स्वरूप से सम्बन्धित है।

(ii) कब कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य कही जाएगी? अर्थात प्रतिज्ञप्ति की कसौटी अथवा जाच क्या है?

इन प्रश्नो के भेद को भी हम स्वीकार कर चुके हैं किंतु पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का विवेचन सर्वत्र इतनी स्पष्टता से नही किया है कि बहुत आसानी से हम उनकी विवेचना को इन दो शीर्षों में बाट सकें। तथापि प्रत्येक दार्शनिक की विवेचना का पृथक पृथक संक्षिप्त विवरण देते हुए इन दोनो प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है।

1 रसेल का मत

रसेल सर्वथा स्पष्ट होकर सत्यता के स्वरूप और जाच-सम्बन्धी इन दो प्रश्नों के भेद को स्वीकार करते हैं।[23] रसेल के अनुसार जिस प्रकार की सत्यता की बात हम दर्शन में करते हैं[24] वह सत्यता प्रथमतः विश्वास का विधेय अथवा गुण है और तदनन्तर व्युत्पन्न रूप से प्रतिज्ञप्ति का।[25] सत्यता के स्वरूप का निर्धारण करते हुए रसेल सत्यता को संवाद के द्वारा परिभाषित करते हैं। रसेल के अनुसार सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो तथ्य से संवाद रखती है।[26]

लेकिन प्रचलित संवाद सिद्धांत की कठिनाइयां हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं और रसेल भी उन कठिनाइयों से अवगत हैं। अतः रसेल संवाद की एक नये प्रकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। रसेल के अनुसार जैसे ही हम स्वीकार करते हैं कि सत्यता निर्णयों में पायी जाती है, हम एक मन के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि मन के बिना निर्णय सम्भव नहीं है।[27] तथापि निर्णय की सत्यता तथ्यों पर निर्भर करती है।[28] रसेल के अनुसार निर्णय मन तथा तथ्यों के बीच का सम्बन्ध है और जब यह सम्बन्ध संवाद का होता है तो प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है।[29] रसेल संवाद को द्वैत का सम्बन्ध न कहकर बहुगुण सम्बन्ध (मल्टिपुल रिलेशन) कहते हैं। क्योंकि यह सम्बन्ध दो पदों के बीच न होकर दो से अधिक पदों—मन, निर्णय तथा तथ्य के बीच का सम्बन्ध है।[30]

इस प्रकार यद्यपि रसेल द्वैतवादी सम्बन्ध की समस्या का निराकरण प्रस्तुत कर देते हैं तथापि रसेल के सामने यह समस्या आती है कि मन, निर्णय तथा तथ्य के बीच का यह गुणात्मक सम्बन्ध कैसा है? रसेल इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण और तथ्यों में एक प्रकार की [illegible] है। यह समानता गुणात्मक न होकर संरचनात्मक होती है।[31]

बीच

पायी जाने वाली यह सरचनात्मक समानता ही विश्वास की सत्यता-असत्यता का निधारण होती है। जब सरचनात्मक समानता का यह सबध विश्वास म पाया जाता है तो विश्वास सत्य होता है अ यथा असत्य ।[32]

प्रतिज्ञप्ति अथवा विश्वास म यह सम्ब ध कब स्वीकार किया जा सकता है ? अथात सत्यता की जाच क्या है ? रसल के अनुसार प्रत्येक वाक्य का एक अभिप्राय होता है। यह आवश्यक नही है कि इस अभिप्राय को अनुभव से ही जाना जाय। जैसे एकशृग का अनुभव नही होता पर एकशृग होते हैं—इस वाक्य के अभिप्राय को हम बिना अनुभव के भी समझ लेते है। यह अभिप्राय एक प्रकार का वणन होता है। अगर यह वणन किसी तथ्य का वणन है तो वाक्य सत्य है अ यथा वाक्य असत्य है ।[33] यथा, मेरी कलम काली है, इस वाक्य का एक अभिप्राय है जो कलम के कालेपन का वणन करता है। अगर यह वणन एक तथ्य का है अर्थात अगर वस्तुत यह कलम काली है तो यह वाक्य सत्य है।

रसेल सत्यता की जाच और परिभाषा सम्बन्धी समस्या का अतिम समाधान यही देते हैं। पर तु यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि हम कब कहेगे कि वाक्य का अभिप्राय जिसका वणन कर रहा है वह वणन वस्तुत एक तथ्य का है ? इस प्रश्न के उत्तर मे रसेल सत्यापन की समस्या को उठाते हैं ।[34] रसेल विभि न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता की जाच के लिए जिस प्रकार के सत्यापन की बात करते है वह सत्यापन निश्चय ही कुछ प्रमाणो के द्वारा सम्भव है। यद्यपि रसल ने कही भी प्रमाण पद का प्रयोग इस सदर्भ मे नही किया है। कि तु विभि न प्रकार के अभिकथनो के सत्यापन के लिये रसेल अनुभव (आई एम हाट), स्मृति (आई वाज हाट), अनुमान (यू आर हाट), अनुभव का समा यीकरण (सन इज हाट) का सहारा लेते है। अनुभव, स्मृति और अनुमान ज्ञानमीमासा मे प्रमाण के अ तगत रखे जाते हैं। इस प्रकार हम प्रमाण की समस्या म पहुचते हैं।

3 एयर का मत

सत्यता क्या है ? एयर के अनुसार सत्यता के स्वरूप से सम्ब धित यह समस्या निरथक रूप स उठा दी गयी है। इस प्रश्न का सरल समाधान है कि अगर प है तो किसी भी भाषा क म प्रतिज्ञप्ति प सत्य है ।[35] सत्यता क्या है ? इस प्रश्न का आशय अगर यह है कि भाषा म प्रतिज्ञप्ति के लिए सत्य का प्रयोग किस अथ म किया जाता है[36] तो इस प्रश्न का उत्तर होगा कि प सत्य है, का अथ है कि मैं प को स्वीकार करता हू ।[37] इस प्रकार सत्यता और असत्यता किसी भी प्रतिज्ञप्ति को स्वीकृत और अस्वीकृत करने वाले चिह्न हैं ।[38] अत यह पूछना निरथक है कि सत्यता का स्वरूप क्या है ?[39] बल्कि दाशनिको के सामने प्रश्न यह है कि सत्यता का मापदण्ड क्या है ? अथवा किसी प्रतिज्ञप्ति की स्वीकृति वध कब होती है ?[40] इस प्रकार एयर के अनुसार सत्यता से सबधित

प्रश्न यह नहीं है कि सत्यता क्या है ? बल्कि प्रश्न यह है कि कब किसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य कहना अथवा स्वीकार करना वैध होता है ? शब्दान्तर से समस्या वैधता के निर्धारण की है।[41]

एयर के अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—1 पूर्वानुभविक तथा 2 आनुभविक। पूर्वानुभविक की वैधता आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता से भिन्न प्रकार से निर्धारित की जाती है।[42] पुनः आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ भी दो प्रकार की हैं—जो प्रत्यक्ष रूप से जाँची जा सकती हैं तथा जिनकी जाँच अप्रत्यक्ष रूप से होती है।[43] जिन प्रतिज्ञप्तियों की जाँच प्रत्यक्ष रूप से की सकती है उन्हें एयर मौलिक अभिकथन (बेसिक स्टेटमेंट) का नाम देते हैं।[44] दूसरे प्रकार की आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ जिनकी जाँच अप्रत्यक्ष रूप से होती है उनकी जाँच मौलिक अभिकथनों के आधार पर होती है।[45] इस प्रकार आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता निर्धारण में महत्त्वपूर्ण है कि मौलिक अभिकथनों की वैधता कैसे निर्धारित की जाती है। एयर के अनुसार प्रत्येक मौलिक अभिकथन की जाँच समकक्षी तथ्यों की तुलना से होती है।[46] अतः प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति की वैधता का निर्धारण प्रकारान्तर से तथ्यों की तुलना से ही हो जाता है।

यह एक प्रकार का संवाद सिद्धान्त है। फलतः संवाद सिद्धान्त के अन्य समर्थकों की भाँति एयर के सामने भी यह प्रश्न आता है कि किसी भी अभिकथन की तुलना तथ्य से कैसे की जा सकती है।[47] एयर के अनुसार तथ्य और अभिकथन को समान कहने का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जिस प्रकार वस्तु और उसके चित्र में समानता होती है उसी प्रकार की समानता तथ्यों और अभिकथनों में हो सकती है। जब हम कहते हैं कि बर्फ गिर रही है इस अभिकथन की समानता इस तथ्य से है कि बर्फ गिर रही है तो हमारे कहने का अर्थ सिर्फ इतना होता है कि कमरे की खिड़की खोलकर अगर हम बाहर देखें तो हमें बर्फ गिरती हुई नजर आएगी।[48] अगर तथ्य और अभिकथन में इस प्रकार की समानता है तो अभिकथन सत्य है अन्यथा असत्य।[49] एयर ने सत्यता के निर्धारण संबंधी जो मापदंड दिया है अथवा संवाद सिद्धान्त की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, निश्चय ही वह संवाद सिद्धान्त के प्रति किए गये सर्वाधिक सबल आक्षेप कि संवाद संबंध स्पष्ट नहीं है, का एक संतोषप्रद समाधान स्वीकार किया जा सकता है।

3 वूजले का मत

वूजले भी सबसे स्पष्ट होकर सत्यता की जाँच और परिभाषा के भेद को स्वीकार करते हैं।[50] इन दो प्रश्नों के बीच भेद स्थापित करके ही वूजले सत्यता के उपयोगितावादी मत का खण्डन करते हैं।[51] वूजले किसी प्रतिज्ञप्ति 'प' की सत्यता के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर मात्र एक पंक्ति में देते हैं कि 'प' सत्य है यदि प है और केवल प का होना ही 'प' की सत्यता बनाता है। 'बिल्ली चटाई पर बैठी है' यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है अगर बिल्ली चटाई पर बैठी है और केवल बिल्ली के चटाई पर बैठी रहने

से ही 'बिल्ली चटाई पर बैठी है' यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है।[52] इस प्रकार वूजले सत्यता का स्वरूप तथ्य के द्वारा निर्धारित करते हैं।

तथ्य के सदर्भ मे सत्यता का निर्धारण सवाद सिद्धान्त भी करता है परन्तु सवाद को परिभाषित करने म जिस प्रकार की उलझनें हैं, वूजले उनसे अवगत हैं। अत वे अपने सिद्धान्त को सवाद सिद्धात से अलग करने की चेष्टा करते हैं और सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य सूत्र का निरूपण करते है।

इस सूत्र के निरूपण मे वूजले इस आपत्ति के प्रति सावधान दिखते है कि प्रतिज्ञप्ति का एक मानसिक पक्ष होता है। अर्थात प्रतिज्ञप्ति मनाश्रित है। परन्तु तथ्य मन से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है। अत सत्य प्रतिज्ञप्ति=तथ्य। यह सूत्र वध नही है। परन्तु वूजले के अनुसार उस सूत्र पर यह आपत्ति ही वैध नही है। क्योकि वूजले के अनुसार मान लें कि विश्व से सभी मनो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है तब भी यह तथ्य रहेगा कि यह कलम काली है या पानी शून्य डिग्री सेल्सियस के तापमान पर बर्फ बन जाता है। परन्तु तब मन के अभाव म ये प्रतिज्ञप्तिया नही रहेगी। तब भी वूजले के अनुसार मन के नही रहने पर भी यह सत्य रहेगा कि अगर प्रतिज्ञप्तिया रची जा सकें तो यह प्रतिज्ञप्ति सत्य रहेगी कि यह कलम काली है अथवा पानी शून्य डिग्री सेल्सियस के तापक्रम पर बर्फ बन जाता है।

परन्तु वूजले अपने इस सूत्र की स्थापना म पूर्णत सफल नही हो पाये हैं। यह ठीक है कि सभी प्रतिज्ञप्तियो के अचानक समाप्त हो जाने पर भी उनके रचे जाने की तार्किक सम्भावना शेष रह जाती है परन्तु वूजले द्वारा दिये गये ऊपर के तर्क से मात्र इतना ही प्रमाणित होता है कि सत्य प्रतिज्ञप्तिया कुछ तथ्यो को बताएगी। इससे यह प्रमाणित नही होता कि सत्य प्रतिज्ञप्ति प्रत्येक स्थिति मे तथ्य का पर्यायवाची है।

सम्भवत वूजले का प्रयास भी यह प्रमाणित करने का नही कि तथ्य और सत्य प्रतिज्ञप्ति प्रत्येक स्थिति म पर्यायवाची है और सम्भवत इसी कारण वूजले और अधिक स्पष्ट होकर स्वीकार करते हैं कि तथ्य और सत्य प्रतिज्ञप्ति सामान्यत वर्णनात्मक अर्थ म अभिन्न हैं। इस कथन से वूजले सिर्फ इतना ही कहना चाह रहे हैं कि सत्य प्रतिज्ञप्ति जिसका वर्णन करती है वह तथ्य होता है।

इस प्रकार वूजले प्रतिज्ञप्ति के सदर्भ मे सत्यता को परिभाषित करते हैं। परन्तु सत्यता की जाच के लिए सत्यता की कसौटी यह नही है। सत्यता की जाच सत्यता की इस परिभाषा से भिन्न है कि सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य है।[53] वूजले के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता की जाच तीन बातो के आधार पर की जा सकती है।[54]

(अ) क के पास प्रमाण हो,
(ब) प्रमाण सही हो और, और
(स) प्रमाण स निष्कर्ष का सम्बन्ध सही हो।

वूजले की सत्यता सम्बन्धी गवेषणा से तीन बातें सामने आती हैं

(क) सत्यता की परिभाषा और सत्यता की जाच दोनो दो बातें हैं,

(ख) प्रतिज्ञप्ति के सदर्भ मे सत्यता को यह कहकर परिभाषित करना चाहिए कि सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य है, और

(ग) सत्यता की जाच की उपर्युक्त तीन उपाधिया हैं।

इन तीनो बिन्दुओ पर विवाद की पूरी सम्भावना है। कुछ दार्शनिक सत्यता की परिभाषा और सत्यता की जाच दोनो का ही एक मानते हैं। कुछ विद्वान ऐसे हैं जो सत्यता को परिभाषित करना व्यर्थ का परिश्रम मानते हैं और मात्र सत्यता की जाच की बात करते हैं। इन दोनो मतो को हम बाद म देखेंगे। सत्यता की वूजले द्वारा बताई गई परिभाषा पर भी विवाद हो सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि सत्य प्रतिज्ञप्ति = तथ्य वाला सूत्र प्रत्येक स्थिति के लिए सगत नही है। स्वत वूजले उस सूत्र को वर्णनात्मक अथ के लिए सीमित कर देते है। इस सीमाबद्धता के बाद वूजले की सत्य प्रतिज्ञप्ति की परिभाषा म साफ साफ इतनी ही बात बचती है कि सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य को बताती है।

किन्तु क्या असत्य प्रतिज्ञप्तिया तथ्य का वर्णन नही करती। मान लें कि मैं अपनी काली कलम के लिए कहू—मेरी कलम लाल है। निश्चय ही यह प्रतिज्ञप्ति असत्य है। किन्तु 'मेरी कलम लाल है'—क्या किसी तथ्य का वर्णन नही करता। अगर यह प्रतिज्ञप्ति किसी तथ्य का वर्णन नही करती तो उसे हम सत्य असत्य कैसे कहेंगे? और जब सत्य और असत्य नही कहेंगे तो यह कैसे प्रतिज्ञप्ति की सज्ञा पा सकेगा? वस्तुत 'मेरी कलम लाल है'—यह प्रतिज्ञप्ति भी एक तथ्य का वर्णन करती है जो इस तथ्य से भिन्न है कि मेरी कलम लाल है। 'मेरी कलम लाल है'—इस प्रतिज्ञप्ति को हम असत्य मात्र सदर्भ म कहते हैं कि मेरी कलम काली है—यह एक तथ्य है। 'मेरी कलम लाल है' जिस तथ्य का वर्णन करता है वह इस तथ्य से भिन्न है।

अत वूजले की परिभाषा मे कुछ दार्शनिक जटिलताए हैं जिससे यह कहने की अपेक्षा कि सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य का वर्णन करती है—यह कहना अधिक अच्छा होगा कि कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य तब होती है जब उसे प्रतिज्ञप्ति म जिस तथ्य का वर्णन हो वैसा वस्तुजगत म हो।

परन्तु यह उत्तर इस प्रश्न का होगा कि कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य कब कही जा सकती है? अर्थात यह उत्तर सत्यता की जाच-सम्बन्धी प्रश्नो का होगा। इस पूरी विवेचना के बाद न सिर्फ हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सत्यता की परिभाषा और सत्यता की जाच दोनो अन्तत एक ही है वरन इस निष्कर्ष म वूजले की सत्यता की जाच सम्बन्धी उपाधियो पर भी प्रश्न चिह्न लग जाता है।

4 चिजम का मत

सत्यता क्या है? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व चिजम का आग्रह दो निम्नलिखित

तत्वमीमासीय मान्यताओ को स्वीकार कर लेने के प्रति है।[55]

(1) कुछ वस्तुस्थितिया हैं जो अस्तित्ववान हैं और कुछ ऐसी वस्तुस्थितिया हैं जो अस्तित्ववान नही हैं।

(2) गुण के दो प्रकार हैं। जिनको उदाहरण के द्वारा बतलाया जा सकता है या उसका निर्देश किया जा सकता है तथा जिनके न तो उदाहरण दिये जा सकते हैं और न बताये जा सक्ते हैं।

इसके साथ ही चिज्म प्रतिज्ञप्तियो के विषय म कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तिया वस्तुस्थितियो की ऐसी उपजातिया हैं जो या तो उपस्थित होती हैं या उपस्थित नही होती।[56] प्रतिज्ञप्तियो को सत्य कहने का अथ है कि वे वस्तुजगत म उपस्थित हैं और असत्य कहने का अथ है कि वे वस्तु जगत मे उपस्थित नहीं हैं। कोई भी वस्तुस्थिति या तो उपस्थित होगी या अनुपस्थित। इसी प्रकार कोई भी प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होगी या असत्य। किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य और असत्य होना साथ साथ सभव नही है।

इस प्रकार कोई तथ्य एक सत्य प्रतिज्ञप्ति है।[57] अर्थात् सत्य प्रतिज्ञप्ति तथ्य है। इस प्रकार चिज्म के अनुसार सत्यता का तथ्य से सवाद कहना निरर्थक है।

सम्भवत इस प्रश्न का उत्तर प्रमाणो की समस्या से जुडा है। तथापि चिज्म के मत के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि चिज्म वूजल की भाति सत्य प्रतिज्ञप्ति और तथ्य को समानाथक कह देते हैं। कि तु इस मत की कठिनाई हम अभी वूजले क मत मे देख चुके हैं।

(इ) भारतीय और पाश्चात्य दर्शनो के सत्यता की धारणा का तुलनात्मक अध्ययन

सत्यता के विषय म भारतीय दाशनिको तथा पाश्चात्य दाशनिको के विचारो मे पर्याप्त अन्तर है। किंतु दोनो विचारधाराओ के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओ पर इनकी तुलना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रामाण्यवाद के अन्तगत ज्ञान की प्रामाणिकता भारतीय दाशनिको ने जिस प्रकार स्वत प्रामाण्यवाद और परत प्रामाण्यवाद के आधार पर बतलाई है, पाश्चात्य दशन म इसका सवथा अभाव है।

1 स्वत प्रामाण्यवाद और पाश्चात्य दर्शन

सतीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार साख्य, मीमासा और अद्वैत दशन के स्वत प्रामाण्यवाद के समानान्तर पाश्चात्य दशन म सत्यता सम्बन्धी कोई सिद्धान्त नही है।[58] किन्तु इस कथन से अगर श्री चटर्जी का तात्पय यह है कि सत्यता की उत्पत्ति और जाच मूलक समस्या को पाश्चात्य दाशनिको ने नही देखा, तो यह एक भ्रामक धारणा है।

पाश्चात्य जगत म सवप्रथम अरस्तू ने यह विचार किया कि सत्यता अपन मारमूलक [9] अथ म निणयो म पाई जाती है। अरस्तू जब यह कहते हैं कि मात्र निणय ही सत्य या असत्य होता है तो इसका अर्थ है कि सत्यता और असत्यता दोनो ही निणयो के भीतर पाई जाती हैं। सत्यता-असत्यता निर्णयो की स्वभावगत विशेषता है और या ता निणय सत्य होगे या असत्य। यह मत साख्य के उस मत के समतुल्य है जो यह कहता है कि सत्यता और असत्यता निर्णयो के भीतर ही पाई जाती है।

पर तु ध्यातव्य है कि सत्यता को जाच के सम्ब ध म अरस्तू साख्य की अपक्षा न्याय मत के अधिक निकट हैं, क्याकि अरस्तू यह कहते हैं कि निणय सत्य तब होता है जब यह निणय से सम्ब धित तथ्य के अनुरूप हो, और इसी भाति नयायिक सत्यता को अनुरूपता से जाचते है।[60]

सत्यता और असत्यता के सम्ब ध म स्वत प्रामाण्यवाद के समान पाश्चात्य दशन का अत अनुभूतिवाद है। दकात, स्पिनोजा आदि बुद्धिवादियो ने सत्यता और असत्यता के निणय के लिए अ त अनुभूति का आधार स्वीकारा है। निश्चय ही स्वत प्रामाण्यवाद की भाति वे स्पष्ट नही कहते कि सत्य स्वत प्रकाश्य होता है, पर तु जब वे कहते हैं कि सत्यता अथवा असत्यता की जाच के लिए हम निणयो के बाहर नहीं जाना पडता अथवा सत्यता को जानने के लिए हम किसी प्रकार की जाच की आवश्यकता नही होती बल्कि इसे हम स्वभावत जान लेते हैं तो वे स्वत प्रकाश्यवाद को स्वीकार कर लेते हैं। क्योकि स्वभावत जान लेने का अथ यही होगा कि सत्यता की ज्ञप्ति और प्रमा की ज्ञप्ति के कारण एक हैं। देकात न सत्यता की कसौटी स्पष्टता और सुभि नता स्वीकार कर ली, जिसका अथ है कि सत्य अपने आप म सुस्पष्ट है, सुभि न है। अथात यह अपना प्रकाशन स्वय करता है। यह स्वत प्रामाण्यवाद है।

आधुनिक वास्तववादियो म एल० ए० रीड नान को स्वत प्रामाण्य कहते हैं और सत्यता को ज्ञान का गुण। उनके अनुसार अगर नान को स्पष्टत हम स्वभाविक रूप से नही जान लेत है तो सत्यता के लिए सम्वाद, ससक्तता आदि सभी जाच निरथक हो जाते है।

2 परत प्रामाण्यवाद और पाश्चात्य दशन

परत प्रामाण्यवाद जिसके सर्वाधिक सबल समथक नयायिक तथा अशत बौद्ध (सत्यता क सम्ब ध म) और मीमासा वेदा त (असत्यता के सम्ब ध मे) है, पाश्चात्य दशन म बहुत रूप म पाया जाता है। समसामयिक अनुभववादो रसेल, एयर, वूजले और चिजम के सत्यता सम्ब धी मतो को परत प्रामाण्यवाद की कोटि म रखा जा सकता है। अथात् ये यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि प्रतिनप्ति की सत्यता उस प्रतिनप्ति के परे कुछ और चीजा पर निभर करती है। जसे रसेल के अनुसार सत्यता सवाद सम्ब ध है। यह सवाद सम्ब ध प्रतिनप्ति से अलग की चीज है। वूजले भी सत्यता को तथ्य के आधार पर परिभाषित करते हैं, तथा बाह्य प्रमाणो द्वारा पुष्ट।

यह भी परत प्रामाण्यवाद है। चिज्म भी सवाद सिद्धात के समर्थक हैं और सवाद सिद्धात परत प्रामाण्यवाद ही होता है। एयर भी इसके अपवाद नही होते ।

वस्तुत इस तथ्य को और विस्तृत विवेचन से स्पष्ट करना होगा कि सत्यता सम्बन्धी चारो परम्परागत पाश्चात्य मतो की व्याख्या परत प्रामाण्यवाद के आधार पर की जा सकती है ।

(क) सवाद सिद्धात और परत प्रामाण्यवाद—सत्यता की ज्ञाप्ति और उत्पत्ति को परत कहने वाले भारतीय दर्शन मे दो मत हैं—नैयायिक और बौद्ध। नैयायिका म नव्य नैयायिक ज्ञान की वैधता (प्रमात्व) को वस्तु को ठीक ठीक वह जैसी है उसी प्रकार के जानने को कहत ह। श्री सतीशच द्र चटर्जी ने इसे एक प्रकार का सम्वाद सिद्धान्त कहा है और इनकी तुलना भव्य-वास्तववादियो से करते हुए इसे उनके सिद्धान्त से कुछ भि न दिखाया है।[61] पर तु अगर सत्यता के सवाद सिद्धान्त और सत्यता के तथ्यपरक सिद्धान्त (सत्यता वह है जो तथ्य को बताती है) म वस्तुत कोई भेद है तो नव्य नयायिको का सिद्धान्त सत्यता के तथ्यपरक सिद्धा त क अधिक निकट हो जाता है। क्योकि नव्य-नैयायिक सत्यता को तथ्य स सवाद नही कहते और तथ्य तथा प्रतिज्ञप्ति के बीच किसी सम्ब ध की सम्भावना को भी स्वीकार नही करते है। गगेश द्वारा दी गयी तदप्रकारत्व वाली परिभाषा मात्र इतना बताती है कि जो वस्तु जसी है उसकी वैसी अनुभूति प्रमा है। यह सवाद सिद्धा त नही है अपितु तथ्य परक सिद्धा त है।

पर तु गगेश की परिभाषा[62] मे और पाश्चात्य परिभाषा म भेद दिखता है। गगेश की परिभाषा म सत्यता को अनुमति के सदभ मे परिभाषित किया गया है। कि तु पाश्चात्य तथ्य परक परिभाषा म सत्यता को प्रतिज्ञप्ति के सदभ म परिभाषित किया गया है। अनुमति और प्रतिज्ञप्ति को एक नही कहा जा सकता। इन दोनो मे एक बहुत बडा अतर दार्शनिको ने किया है कि अनुभूति सदैव सत्य होती है कि तु प्रतिज्ञप्ति सत्य या असत्य दोनो हो सकती है।

यद्यपि अनुभूति सदैव सत्य होती है, कि तु विषय वस्तु के आधार पर अनुभूतियो मे प्राकारिक अन्तर आ जाता है। अतएव यथाथ अनुभूति को प्रमा और अयथाथ अनुभूति को अप्रमा कहते हैं। अत्र अनुभूति प्रमा रूप हो या अप्रमा रूप, उनकी अभिव्यक्ति प्रतिज्ञप्तियो म होती है। अगर वे प्रतिज्ञप्तिया किसी उपस्थित वस्तु स्थिति को बता रही हैं तो प्रतिज्ञप्तिया सत्य हैं और प्रतिज्ञप्तियो क माध्यम स अनुभूति सत्य है। इस प्रकार यद्यपि अनुभूति और प्रतिज्ञप्ति एक न ी है, इ न दष्टिकोण मे अनुभूति और प्रतिज्ञप्ति एक है।

कुछ लोग भव्य नयायिको के तथ्यपरक सिद्धा न और पाश्चात्य तथ्यपरक सिद्धात क सदभ म यह कह सकते हैं कि इस दृष्टिकोण से अनुभूति और प्रतिज्ञप्ति एक होन पर भी दोनो सिद्धातो मे एक भेद यह है कि पाश्चात्य दार्शनिक सत्यता को

प्रतिज्ञप्ति द्वारा तथ्य का निर्देश मानता है और नव्य नैयायिक अनुभूति और तथ्य में प्राकारिक समानता (तद् प्रकारत्व) को सत्यता कहता है। निर्देश तथा तद्प्रकारत्व में अन्तर है। निर्देश में सम्बन्ध या समानता का कोई प्रश्न नहीं उठता जबकि तद प्रकारत्व में यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई अनुभूति वस्तु के प्रकार की हो सकती है?

रसेल ने सत्यता की परिभाषा देते हुए उसे प्रतिज्ञप्ति से तथ्य का सवाद कहा है। उनके अनुसार सवाद एक प्रकार का सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के उपस्थित होने का अर्थ है कि प्रतिज्ञप्ति और तथ्य मे आकारिक समानता है।[63] किन्तु तथ्य और प्रतिज्ञप्ति मे आकारिक समानता स्वीकार करने से समस्याएं आती हैं। कलम एक वस्तु है और इसकी एक आकृति है। अब, कलम एक वस्तु है—क्या इस प्रतिज्ञप्ति की कलम वस्तु से आकारिक समानता की बात की जा सकती है? इसे स्वीकार करना युक्तिपूर्ण नहीं है।

किसी अनुभूति को वस्तु के प्रकार का स्वीकार करने के लिए साख्य का उल्लेख किया जा सकता है। साख्य ने ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब बुद्धि का विषय से सयोग होता है तो बुद्धि उस वस्तु का आकार ग्रहण कर लेती है। किन्तु अगर बुद्धि वस्तु का आकार ग्रहण करती है तो अनुभूति भी वस्तु का आकार ग्रहण कर सकती है। लेकिन क्या अनुभूति वस्तु का आकार ग्रहण करती है?

इस प्रश्न के निर्णय के लिए यह आवश्यक होगा कि हम अनुभूति और विषय-वस्तु को स्वतन्त्र रूप से जानें, फिर दोनो की तुलना करें और कहे कि इनके बीच भेद है अथवा नहीं। किन्तु यह सम्भव नहीं है। प्रथमत अनुभूति को जब भी हम जानेंगे तो अनुभूति के द्वारा ही। इस प्रकार अनुभूति स्वत एक विषय वस्तु हो जायगी। इस विषय वस्तु से पृथक अनुभूति का ज्ञान सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कभी भी विशुद्ध अनुभूति और विशुद्ध विषय वस्तु की तुलना कर उनके बीच भेद या समानता नहीं दिखा सकते।

> (ख) ससक्तता सिद्धान्त और परत प्रामाण्यवाद—पाश्चात्य दर्शन में ससक्तता सिद्धान्त मुख्यत निरपेक्ष प्रत्ययवादियों हेगल, ब्रेडले, बोसान्क्वेट आदि द्वारा तथा तर्कनिष्ठ अनुभववादियो द्वारा स्वीकार किया गया है। निरपेक्ष प्रत्ययवादी ससक्तता सिद्धान्त के तत्वमीमासीय रूप को स्वीकार करते हैं तथा तर्कनिष्ठ अनुभववादी उसके ज्ञानमीमासीय रूप को स्वीकार करते हैं।[64]

तर्कनिष्ठ अनुभववादी ससक्तता सिद्धान्त को ज्ञान की कसौटी के रूप में स्वीकार करते हैं। रसल के अनुसार सत्यता का निर्धारण सवाद है।[65] वे कुछ स्थितियों में सत्यता की जाच ससक्तता के आधार पर स्वीकार करते हैं।[66] रसल के अनुसार यद्यपि यह जाच अन्तिम रूप से निर्णायक नहीं होती, परन्तु ससक्तता के आधार पर विश्वास की सत्यता की सभावना में वृद्धि होती है। रसल में ससक्तता से सत्य के अन्तिम निर्धारण के लिए सवाद की आवश्यकता स्वीकार की है।[67] इस प्रकार रसल द्वारा समर्थित

ससक्तता सिद्धान्त चरम या निरपेक्ष नही रह जाता। यह सापेक्षा ससक्ततावाद है।

भारतीय दशन मे नैयायिक और बौद्ध दोनो सत्यता की कसौटी के रूप म ज्ञानान्तर सवाद को स्वीकार करते हैं। ज्ञानान्तर सवाद का अथ है दो ज्ञान या दो से अधिक ज्ञानो के बीच सगति। यथा, यह घट है। इस ज्ञान की पुष्टि इस ज्ञान मे हो सकती है कि इसमे जल सग्रह की क्षमता है। यहाँ यह घट है, ज्ञान इसमे जल सग्रह की क्षमता है से ससक्त है।

नैयायिको और बौद्धो का ससक्तता सिद्धान्त पाश्चात्य निरपेक्ष प्रत्ययवादियो के ससक्तता सिद्धान्त मे भिन्न है। यह भिन्नता इस अथ मे है कि पाश्चात्य निरपेक्ष प्रत्ययवादी ससक्तता को एक तत्र कहता है और प्रतिज्ञप्तियो को तत्र का एक अश। निरपेक्ष प्रत्ययवादियो के सिद्धान्त मे प्रतिज्ञप्ति सत्य तभी होगी जब वह सत्यता के इस तत्र का अश हो। ससक्तता सिद्धान्त से प्रत्ययवादियो की तत्त्व मीमासा की अनिवाय सगति है। उनकी तत्वमीमासा म प्रत्यय जगत से भिन्न तथ्य की स्वतन्त्र सत्ता नही है। अतएव यहा ससक्तता ही सत्यता का निर्धारक होता है।

किन्तु नैयायिक जब ससक्तता की बात करते हैं तो उनकी ज्ञान मीमासा म ससक्तता का एक व्यावहारिक अथ है। ज्ञानान्तर सवाद मे सज्ञानात्मक और व्यावहारिक क्रिया के बीच सामजस्य होना है[68] यथा, यह घट है, इस ज्ञान की सत्यता की जाच इस तथ्य से भी की जा सकती है कि इसमे जल सग्रह किया जा सकता है। वस्तुत यह मत रसेल के मत के समान होता है, जो सत्यता को सवाद के आधार पर परिभाषित करते हैं तथा ससक्तता के द्वारा जाचते है।

(ग) उपयोगितावादी सिद्धान्त और परत प्रामाण्यवाद—रसेल, एयर, वूजले और विजम मे से कोई भी उपयोगितावाद को सत्यता की परिभाषा के रूप म स्वीकार नही करते। इन दाशनिको मे वूजले ही एक मात्र ऐसे दाशनिक हैं जो उपयोगितावाद को कुछ अशो मे सत्यता के मापदण्ड के रूप मे स्वीकार करते हैं।[69]

वूजले के मत को सापेक्ष उपयोगितावाद कहा जा सकता है। न्याय और बौद्ध दशन का प्रवृत्ति सामथ्य इसी प्रकार का उपयोगितावादी मत है। वहा प्रवृत्ति—सामथ्य का अर्थ है प्रवत्ति मे सफलता। अर्थात प्राप्त ज्ञान अगर हमारे प्रयोजन की सिद्धि मे सहायक है तो ज्ञान प्रमा है अन्यथा अप्रमा। इस मत को निरपेक्ष उपयोगितावाद (डिवी, जेम्स, शीलर के उपयोगितावाद की भाति) नही कहा जा सकता है। क्योकि निरपेक्ष उपयोगितावाद के अनुसार सत्यता की परिभाषा और जाच सम्बन्धी समस्त प्रश्नो का समाधान उपयोगितावाद से हो जाता है। किन्तु भारतीय दाशनिक मात्र सत्यता की ज्ञाप्ति (जाच) के लिए ही प्रवृत्ति सामथ्य को स्वीकार करते हैं। किन्तु वे इसे एक मात्र कसौटी स्वीकार नही करते।

भारतीय दशन के प्रवृत्ति-सामथ्यवाद का पाश्चात्य उपयोगितावाद स अन्तर एक दूसरे आधार पर भी किया जा सकता है। प्रवत्ति-सामथ्यवाद की एक व्याख्या एयर

के सत्यता सम्बन्धी सिद्धान्त के समानान्तर हो सकती है। अपनी पुस्तक लग्वेज ट्रुथ एण्ड लाजिक म एयर ने कहा है कि सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तिया प्राक्कल्पनाए होती हैं।[70] और प्राक्कल्पनाओ की सत्यता इस पर भी निभर करती है कि उन प्राक्कल्पनाओ को सत्य मानकर जिन निष्कर्षों की अपेक्षा करते है वे निष्कप हम प्राप्त कर ले।[71] एयर के इस मत को उपयोगितावाद नही समझना चाहिए। एयर उपयोगितावाद के आलोचक हैं और सत्यता की जाच के लिए वे स्पष्टत सवाद सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। यहा एयर के मत का सामान्य उपयोगितावाद से अन्तर समझ लेना चाहिए। उपयोगितावाद वह सिद्धान्त है जो यह स्वीकार करता है कि सत्य वह है जो उपयोगी हो या व्यावहारिक सतुष्टि म सहायक हो। किन्तु एयर प्राकल्पनाओ की सत्यता क लिए प्राकल्पनाओ के उपयोगी होने की बात नही करते और न उन्हे व्यवहारिक सतुष्टि का साधन समझते है। उनका इस मत स कोई दुराव नही है कि सत्य प्राकल्पनाए उपयोगी नही भी हो सकती हैं। प्राकल्पनाओ को सत्य मानकर हम जो अपेक्षाए करते हैं उन अपेक्षाए क पूरी हो जाने का अथ यह नही है कि व हमे सतुष्ट कर ही दें या हमार लिए उपयोगी हो ही। अपेक्षाओ का पूरा हो जाना एक अलग बात है और उन अपेक्षाओ की पूर्ति का उपयोगी होना या उन अपेक्षाओ की पूर्ति से सन्तुष्ट हो जाना अलग बात है। एयर सिफ अपक्षाओ की पूर्ति की बात करते हैं। यह मत निश्चय ही उपयोगितावाद नही है।

जब नयायिक या बौद्ध यह कहते है कि यह घट है, इसकी सत्यता उसम जल भर सकने के कारण जाची जा सकती है तो वे सम्भवत यह नही कहते कि यह घट हमारे जल सग्रह कर लेने के कारण हमारे लिए उपयोगी है या हम सतुष्ट कर पाता है। व मात्र इतना कहना चाहते है कि प्रतिज्ञप्ति यह घट है को सत्य मानने पर हम उससे यह अपक्षा करेंगे कि इसम जल सग्रह की क्षमता है। अर्थात् अगर ज्ञान को सत्य मानकर उसस की जान वाली अपक्षा की पूर्ति हो जाती है तो ज्ञान सत्य है। प्रवत्ति सामथ्य की यह व्याख्या एयर के मत के समान है। यहा यह प्रश्न उठता है कि भारतीय दशन म प्रवत्ति-सामथ्य की कौन सी व्याख्या उचित है, उपयोगितावादी या एयर के मत के समकक्षी अपक्षावादी ?

सम्भवत भारतीय मत की दोनो व्याख्याए अपन-अपने स्थान पर ठीक हैं। भारतीय दाशनिक ज्ञान के व्यावहारिक महत्त्व को नकारना नही चाहता। व्यवहार में बहुधा हम उपयोगी तथ्यो को सत्य मान लेत हैं। यहा यह सत्य है कि उपयोगी होना और सत्य होना पृथक-पृथक् हैं। किन्तु इसस भी इकार नही किया जा सकता है कि जो उपयोगी होता है वह सत्य भी हो सकता है। अत यह कहा जा सकता है कि कुछ स्थितिया मे उपयोगिता प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को आधार प्रदान करता है। अत न्याय और बौद्ध के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान म रखकर प्रवृत्ति सामथ्य की उपयोगितावादी व्याख्या स्वीकार की जा सकती है। किन्तु हम देख चुके हैं कि कुछ अर्थों म प्रवृत्ति-सामथ्य एयर के मत क समक्ष है। अत प्रवृत्ति-सामथ्य की मात्र उपयोगितावादी व्याख्या एकांगी होगी। वस्तुत प्रवृत्ति-सामथ्य क दो पक्ष हैं उसका व्यावहारिक पक्ष उपयोगितावाद का

पक्ष है तथा सिद्धान्त पक्ष एयर की भांति अपेक्षावाद का।

००

सन्दर्भ

1 प्राइस, एच० एच०, सम कसीडरेसन्स एबाऊट बिलिफ, ग्रिफिथ्स ए० फिलीप्स द्वारा सपादित नॉलज एण्ड बिलीफ, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लदन, 1932, पृ० 4

2 प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत साख्या समाधिता
नैयायिकास्ते परत, सौगताश्चरम स्वत
प्रथम परत प्राहु, प्रमाण्य वेदावादित
प्रमाणत्व स्वत प्राहु परतश्चाप्रमाणताम।
—सवदशन सग्रह पृ० 131

३ शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दाशनिक समस्याए, पृ० 69

4 भट्ट, गोवधन पी०, एपिस्टेमोलाजी ऑफ दि भट्ट स्कूल आफ पूवमीमासा, प० 114

5 वही, पृ० 115

6 वही, पृ० 114

7 यत्र व्यवहार विसवादा तत्र पूवज्ञानस्य भ्रान्तत्वम।
—रामानुजाचाय, तत्त्वरहस्य, पृ० 3

8 श्लोकवर्तिका 2/47

9 वही, 2/53

10 यत्रार्थाविसवादित्वमस्ति तत्र प्रामाण्यम।
—भाट्ट उम्बेक, तात्पय टीका, मद्रास सस्कृत सीरीज, पृ० 54

11 अद्वैत सिद्धि, निणय सागर मुद्रणालय, बम्बई, 1917, प० 312

12 वही, पृ० 351-352

13 पाथसारथी, याय रत्नमाला, प० 38

14 पाथसारथी, शास्त्र दीपिका, पृ० 22

15 पाथसारथी, न्याय रत्नमाला, पृ० 37

16 कुमारिल, श्लोकवर्तिका, 2/77-81

17 परत प्रामाण्याप्रामाण्य नाप्ति।

18 जयन्त, न्यायमजरी, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, 1936, पृ० 161 169

19 शर्मा, नन्दकिशोर, भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० 92 93
20 गुणवत करण ज्ञान का अर्थ है ज्ञान के विशिष्ट करणों का परीक्षण यथा प्रका
की उचित मात्रा, इन्द्रियों का दोषरहित होना आदि।
21 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज, प० 79
22 केशवमिश्र, तर्कभाषा पृ० 140-144
23 रसेल, बी०, फिलॉसफिकल एसेज, ए क्लेरियन बुक, साइमन एण्ड स्कूस्टर, 1968
प० 149
24 वही, प० 147-148
25 रसेल, बी०, एन इन्क्वायरी इन्टु मिनिंग एण्ड ट्रूथ, पेंगुइन बुक्स, 1962, पृ०215
26 वही, प० 287
27 फिलॉसफिकल एसेज, पृ० 149
28 वही, प० 149
29 वही, प० 153
30 वही, पृ० 155
31 ह्यूमन नॉलेज, इटस स्कोप एण्ड लिमिटस, पृ० 168
32 वही, प० 165 166
33 वही, प० 167
34 एन इन्क्वायरी इन टू मीनिंग एण्ड ट्रूथ, पृ० 214 222
35 एयर, ऐ० जे०, दि कसेप्ट आफ ए परसन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लदन, 1963,
पृ० 162
36 वही, प० 167
37 वही, प० 166
38 एयर, ए० जे०, लग्वेज ट्रूथ एण्ड लॉजिक, पृ० 89
39 वही प० 89
40 दि कसेप्ट ऑफ ए परसन, प० 167-169
41 वही, पृ० 167
42 वही, पृ० 170
43 वही, प० 170
44 वही प० 171
45 वही, प० 172
46 वही, प० 172
47 वही प० 177
48 वही, पृ० 185 186
49 वही, पृ० 186
50 वूजले, ज्ञानमीमांसा परिचय, पृ० 138

51 वही, पृ० 139
52 वही, प० 179
53 वही, प० 184
54 वही, प० 202
55 चिज्म, आर० एम०, थ्योरी ऑफ नालेज, पृ० 87
56 वही, प० 87
57 वही, प० 88
58 चटर्जी एस० सी०, न्याय थ्योरी आफ नॉलेज, पृ० 101
59 मेटाफिजिक्स, अनु, डब्लू डी० रास 9, 10
60 यत्र यदास्ति तत्र तस्यानुभवो प्रमा तद्वति तद्प्रकारकानुभवो वा ।
61 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज, प० 105
62 यत्र यदास्ति तत्र तस्यानुभवो प्रमा तदवति तद्प्रकार कानुभवो वा ।
63 रसेल, वी, ह्यूमन नालज, इटस स्कोप एण्ड लिमिटस, पृ० 168
64 चटर्जी, एस० सी०, दि प्रोब्लेम्स आफ फिलॉसफी, पृ० 155
65 रसेल, वी, प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, पृ० 123
66 वही, प० 140
67 वही पृ० 140
68 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नॉलेज, पृ० 106
69 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, प० 140
70 एयर, ए० जे०, लैंग्वेज ट्रूथ एण्ड लाजिक, पृ० 124
71 वही, प० 131-132

००

4

विश्वास और नि शकता

समसामयिक अनुभववादियो ने सामान्यत जानने को एक प्रकार का विश्वास कहा है। कि तु इस विश्वास को प्रतिज्ञप्तियो मे व्यक्त किया जाना चाहिए। चूकि प्रतिज्ञप्तिया या तो सत्य होती हैं या असत्य,[1] । विश्वास भी या तो सत्य होता है या असत्य।[2] यदि विश्वास असत्य है तो स्पष्टत इस प्रतिज्ञप्ति को जिसमे कि वह विश्वास व्यक्त किया जा रहा है, हम नही जानते। किन्तु यदि प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो वह विश्वास ज्ञान हो भी सकता है और नही भी हो सकता क्योकि जानना एक प्रकार का सत्य विश्वास है।[3] परन्तु सभी सत्य विश्वास जानना नही होते। ऐसी स्थिति मे इन दार्शनिको के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जानना और सत्य विश्वास म क्या अतर होता है ?

दूसरी तरफ भारतीय दार्शनिक ज्ञान अथवा प्रमा को इस प्रकार विश्वास के सदर्भ म समझने की चेष्टा नही करते और न इतने स्पष्ट होकर ही वे प्रमा अथवा ज्ञान को एक विशेष प्रकार के विश्वास की सज्ञा देते हैं। कि तु कुमारिल ने एक स्थान पर प्रमा की परिभाषा करते हुए 'तस्मात दृढ[4] पद का प्रयोग किया है जिस पर भाष्य करते हुए अम्बिका ने दृढ' को सदेह का अभाव कहा है। नैयायिको न भी सदेह को प्रमा की कोटि स हटा दिया है।[5] जिसका अथ यही होगा कि सदेह की स्थिति को जानने की स्थिति नही कहेगे। अर्थात सशय का अभाव प्रमा की एक अनिवाय उपाधि है।

समसामयिक अनुभववादियो ने जहा जानने को एक विशेष प्रकार के सत्य विश्वास की सज्ञा दी है वहा जानने की अनिवाय उपाधि नि शकता को बताया है।[6] किंतु आश्चयजनक तथ्य यह है कि जहा पाश्चात्य ज्ञानमीमासक ज्ञान के स्वरूप निधारण के लिए विश्वास के दार्शनिक विश्लेषण पर अत्यधिक बल देते हैं, सशय के स्वरूप की व्याख्या को उपेक्षित छोड देते हैं। बुद्धिवादियो मे बोसाक्वेट प्रभृति दार्शनिको ने सशय का तकशास्त्रीय विवेचन किया है, जिसका उल्लेख हम आवश्यकतानुसार करेंगे। कि तु एयर और वजल ने यद्यपि नि शकता को जानने की उपाधि स्वीकार किया है सशय के विश्लेषण की आवश्यकता अनुभव नही की है। तथापि पाश्चात्य और भारतीय दशन के तुलनात्मक विवेचन के क्रम म नि शकता और विश्वास दोनो के विवेचन की समस्या है। विश्वास की विवेचना पाश्चात्य दार्शनिक अत्यधिक मुखर होकर करता है। अत विश्वास

का विश्लेषण हम पाश्चात्य दर्शन के प्रकाश मे करेंगे और संशय के विश्लेषण पर भारतीय दार्शनिको के आग्रह के कारण वहा हम भारतीय विचारधारा को प्रमुखता देंगे। इन दोनो के अलग-अलग विश्लेषण के पश्चात भी एक प्रश्न हमारे सामने आता है कि क्या संशय का अभाव और विश्वास एक ही चीजें हैं? अगर नही, तो प्रमा या जानने की उपाधि के रूप मे किसकी स्वीकृति उचित होगी—विश्वास की या संशय के अभाव की या विश्वास और संशय के अभाव दोनो की?

(अ) संशय

1 स्वरूप

संशय के स्वरूप के सम्बन्ध मे स्पष्टत मनोवैज्ञानिको की भाति हम यह प्रश्न नही करेंगे कि संशय की स्थिति मे हम किस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया या किन प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओ से गुजर रहे होते हैं। हमारा प्रश्न यह होगा कि वे कौन-सी बाह्य और आन्तरिक उपाधियां हैं जो किसी प्रतिज्ञप्ति को संदिग्ध बनाती हैं अथवा किसी स्थिति को संदेह की संज्ञा दे देती हैं।

संदेह अथवा संशय क्या है? साधारण बोलचाल की भाषा मे किसी भी स्थिति के बारे मे दो या अधिक भिन्न मत जिनमे से दोनो या सभी एक साथ संभव न हो और किसी एक के प्रति या एकाधिक के प्रति हम अपनी मति अथवा अपने विश्वास को स्थिर न कर पा रहे हो, तो उस स्थिति को संदेह की स्थिति कहेंगे। प्राय दार्शनिक गवेषणा का विषय भी संशय का यही स्वरूप रहा है। नैयायिक संदेह को तृतीय पदार्थ कहते हैं। वे इसे एक प्रकार का ज्ञान कहते हैं जिसका विषय दो विरोधी कोटियां होती है।[7] तर्कसंग्रह मे संशय को एक ही वस्तु को विभिन्न व्याघात धर्मों से युक्त बताने वाली मानसिकता कहा गया है।[8] श्लोकवार्तिका मे कुमारिल ने संशय को अनवधारणात्मक ज्ञान कहा है जिसमे एक ही वस्तु को विपरीत धर्मों से युक्त समझा जाता है तथा जिन धर्मों के निश्चयात्मकता का अभाव रहता है, जैसे किसी लम्बी वस्तु को देखकर निश्चय नही कर पाना कि यह मनुष्य है अथवा वृक्ष का तना।[9] इसी आधार पर डॉ० गोवर्धन भट्ट ने संशय को निश्चयात्मकता या विश्वास का अभाव बताया है।[10] परन्तु डॉ० सतीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार संशय मात्र निश्चयात्मकता अथवा संदेह का अभाव नही। यह एक भावात्मक अवस्था है जहां एक ही वस्तु का बोध एक ही समय मे विपरीत गुणो से युक्त होकर होना है।[11]

डॉ० चटर्जी ने संशय का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है[12]

(i) संशय मे एक अस्तित्ववान वस्तु की उपस्थिति होती है,

(ii) साहचर्य गुण के कारण उपस्थित वस्तु मे दो या दो से अधिक गुणो की चेतना होती है जिनमे से प्रत्येक पृथक पृथक उचित भी प्रतीत होता है, साथ

ही सहचारी चेतना के द्वारा बाधित भी प्रतीत होता है,

(iii) किसी निश्चित बोध के अभाव म मन किसी एक चेतना के प्रति स्थिर नही हो पाता और सदेह उत्प न होता है, तथा

(iv) इस प्रकार सदेह एक ही वस्तु म विभि न विरोधी गुणो का स्मरण है जिसके समान कुछ भी वस्तु जगत मे उपस्थित नही होता (विषय स्मत्या पेक्षा) सदेह मे मानसिक आदोलन को सही प्रक्रिया एक प्रश्न के रूप म अभिव्यक्त होती है। यथा क्या यह कोई मनुष्य है या खम्भ है या वक्ष का तना है ?

पर तु पाश्चात्य दाशनिक वोर क्वेट सशय को एक प्रकार का प्रश्न नही बल्कि वकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहते है। वस्तुत इस बात पर विवाद की पूरी सम्भावना है कि सशय प्रश्न है या वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति ?

पुन विवाद का एक बिंदु यह भी है कि डॉ० चटर्जी सशय की विषय वस्तु को अस्तित्ववान कहते है। अस्तित्ववान कहने से सशय की विषय वस्तु का दो प्रकार से बोध होता है। प्रथमत ऐसी वस्तु जो वस्तुत अस्तित्ववान हो यथा—इस समय जो कलम मेरे हाथ म है वह अस्तित्ववान है। तथा द्वितीयत ऐसी वस्तु जिसका अस्तित्व इस वस्तु जगत म तो हो पर किसी काल विशेष म किसी स्थान विशेष पर उपस्थित न हो जस हाथी अस्ति वान शब्द है परतु इस समय इस कमरे मे उपस्थित नही है। डा० चटर्जी ने प्रथम अथ म अस्तित्ववान का प्रयोग किया है।

अब क्या वस्तुत सशय की स्थिति मे कोई अस्तित्ववान वस्तु उपस्थित होती है ? रात के अ धेरे मे जब हमारी नीद खुलती है, वातावरण एकदम निस्तब्ध होता है, बिना किसी सामा य सरसराहट को भी अनुभव किए हमारे मन मे यह सशय आता है क्या आगन म चोर छुपकर बैठा है ? ऐसी स्थिति म वहा मैं के अतिरिक्त कोई अस्ति त्ववान वस्तु सशय के लिए उपस्थित नही होती। वस्तुत जैसा कि देकात स्वीकार करता है, स शय से स शयकर्ता के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नही होता। या जैसा कि देकात के आलोचक कहते है, यह भी कहा जा सकता है कि सशय से मात्र सशय सिद्ध होता है सशयकर्ता भी नही।

किंतु क्या वस्तुत सशय से सशय की वस्तु और सशयकता सिद्ध नही होते ? फिर सशय म क्या सिद्ध होता है ? मात्र सशय ? तो सशय का स्वरूप क्या है ? उसके सघटक तत्त्व क्या हैं ? या इन सघटक म सशय की वस्तु और सशयकर्ता सम्मिलित नही हैं ?

ऐसा प्रतीत हो रहा है जस यह एक मनोवज्ञानिक प्रक्रिया की भाति सशय की जाच है। पर तु द शन और मनोवज्ञानिक के तथ्यो को तालमेल स बचाना होगा। क्योकि स्पष्टत द शन और मनोविज्ञान क विषय वस्तु अगर एक हो तो भी दोनो की विधियो म अ तर है।[13] और यही अन्तर मनोविज्ञान और द शन के बीच की वि भाजक रखा है। यह रेखा अनिवाय है क्योकि द शन वहा भी, जहा कि वह पूणत आनुभाविक जगत की बात करता है, तार्किक सभाव्यता की बात करता है किंतु मनोविज्ञान या दूसर अनुभाविक

शान मात्र आनुभविक सभावनाओ और सत्यो से ही काम चलाते है । यही कारण है जहा दूसरे शास्त्र या विज्ञान अपने अपने निष्कर्षों को अनिवार्य स्वीकार कर चलते हैं वहा दर्शन इस अनिवार्यता को भी सशय की दृष्टि से देखता है। इस दृष्टि से हमे यहा तार्किक सदेहवाद और मनोवैज्ञानिक सशय का भेद समझ लेना होगा।

2 तार्किक सदेहवाद और मनोवैज्ञानिक सशय

दर्शन म सदेहवाद का प्रारम्भ प्राचीन यूनानी दर्शन से होता है।[14] प्राचीन यूनान मे सन्देहवाद के भी पूर्व एक दार्शनिक हठवाद आया जो दर्शन के प्रारम्भ मे ही कुछ आधार वाक्यो को मान लेता था और इन आधार वाक्यो की परीक्षा किए बिना इन आधार वाक्यो से दार्शनिक निष्कर्ष निकालता था।[15] इसकी प्रतिक्रिया म यूनान मे सोफिस्ट सम्प्रदाय आया जो इन परम्परागत रूढवादी दर्शन के परस्पर विरोधी सिद्धातो को आमने सामने रखकर दर्शन के व्याघात को उजागर करने लगा।[16] ख्याति प्राप्त सोफिस्ट प्रोटागोरस लब्धप्रतिष्ठ सिद्धात उस काल म आया—मानव ही सभी सत्यो का मापदण्ड है।[17] अत, व्यक्ति के लिए वही सत्य है जो उसे सत्य प्रतीत होता है। परन्तु व्यक्तिगत सवेदना और अनुमति तक ही सीमित है। अत सत्य सार्वभौम न होकर व्यक्तिगत हो जाता है। समस्त सोफिस्ट विचारधारा को तीन वर्गों मे बाटा जाता है—ज्ञान, राजनीति और नीति।[18] ज्ञान और नीति के विषय मे सोफिस्ट सम्प्रदाय का निष्कर्ष है कि ज्ञान सभव नही तथा नतिकता सार्वभौमिक नही।[19] ज्ञान की सभावना के प्रति निराशावादी मत प्रकट करने के कारण सोफिस्ट सशयवादी है।[20]

परतु सोफिस्ट सशयवाद की धारा अधिक दिनो तक नही चली। देकात ने दर्शन के क्षेत्र म सार्वभौमिक तथ्य की खोज प्रारम्भ की। यद्यपि देकात के दर्शन का प्रारम्भ सशय से ही होता है तथापि देकार्तीय सशय और सोफिस्ट सशयवाद मे अन्तर है। देकार्तीय सशय एक मनोवैज्ञानिक सशय है और देकार्तीय दर्शन मे वह एक विधि की तरह प्रयुक्त हुआ है। यह विधि देकार्तीय दर्शन का प्रारम्भ है, अन्त नही। देकात निश्चित तथ्य की प्राप्ति के लिए सन्देह प्रारम्भ करता है और अतत आत्मा की अनिवार्य सत्ता स्वीकार करता है।[21] अत देकार्तीय सदेह साधन है साध्य नहीं। परन्तु सोफिस्ट सदेहवाद मनोवैज्ञानिक नही तार्किक सदेह है। जो उनके दर्शन का चरम प्रतिफल है।

देकार्तीय सदेह और सोफिस्ट सदेह से भिन्न सदेहवाद एक ज्ञान मीमासीय सिद्धात के रूप म भी उभरा। ह्यूम के सदेहवाद का अर्थ है कि हमारा प्रत्येक ज्ञान सन्दिग्ध है, सदेह से परे हम कुछ नही जानते। आधुनिक सदेहवादी ह्यूम न तो वैज्ञानिक कथनो का निषेध करता है[22] और न तत्वमीमासीय विश्वासो का, वह मात्र वैज्ञानिक कथनो का निषेध करता है।[23] यही नही, ह्यूम समस्त वस्तुजगत के ज्ञान के प्रति सदेह प्रकट करता है। परन्तु ह्यूम वस्तुजगत के ज्ञान की व्यावहारिकता को भी स्वीकार करता है। ह्यूम के अनुसार, वस्तुजगत का ज्ञान सदिग्ध है का अर्थ मात्र इतना

वह अनिवार्य नहीं है। अनिवार्य वह है जिसका निषेध स्वतोव्याघाती हो।[1] सूरज कल निकलेगा का निषेध सूरज कल नहीं निकलेगा स्वतोव्याघाती नहीं है। इसीलिए यह ज्ञान सम्भावित है।[25] और इसकी प्रामाणिकता का मापदण्ड विश्वास है।[26]

इस प्रकार ह्यूम चाहे तत्वमीमांसा के प्रति उसने कितना भी नकारात्मक रुख क्यों न अपनाया हो[27] वस्तुजगत के अस्तित्व को नकारने या स्वीकारने के प्रति उतना आग्रहशील नहीं है जितना इस बात के प्रति उस जगत का असंदिग्ध ज्ञान हम नहीं हो सकता।

तर्कनिष्ठ अनुभववाद तक आते आते सन्देहवाद का स्वरूप और बदलता है। ह्यूम, मिल, वेन इत्यादि कहते रहे कि अनुभव से प्राप्त प्रत्येक ज्ञान संदिग्ध है[28] परन्तु एयर तक आते-आते संदेहवादी प्रहार स्वतः अनुभव पर ही प्रारम्भ हो गया। अब तक प्रश्न यह था कि जिन सत्यों को हम अनिवार्य जानने का दावा करते हैं वे सत्य जिन प्रमाणों पर आधारित हैं उन प्रमाणों से क्या वैधतः ये निष्कर्ष निगमित होते हैं ? और अब प्रश्न हो गया कि क्या ये प्रमाण ही स्वतः वैध हैं ?[29] ह्यूम के अनुसार अनुभव कार्य कारण सम्बंध का प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुभव से हम कार्य-कारण सम्बंध को नहीं जानते पुनः उसने अनुभव को स्थायी आत्मा का प्रमाण स्वीकार नहीं किया क्योंकि अनुभव से संवेदनाओं के चंचल प्रभाव के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते। परन्तु एयर तक आते आते सन्देहवाद का रूप हुआ कि ज्ञान के समस्त स्रोत प्रत्यक्ष, स्मृति, शब्द संशय से परे नहीं है।[30] आधुनिक युग और इससे प्रभावित परवर्ती में भी संशयवाद एक ऐसे नकारात्मक सिद्धान्त के रूप में समझा जाता रहा, जिसके आधार पर मनुष्य के ज्ञान की सम्भावना के प्रश्न का उत्तर अत्यधिक निराशाजनक रहा। किन्तु समसामयिक दर्शन में सन्देहवाद को एक नए ढंग से समझने की चेष्टा की गई। यहां सन्देहवाद को निराशावाद का समर्थक नहीं बल्कि अनिवार्यता की मांग की मोह निद्रा से जगे एक सफल आलोचक के रूप में समझा गया। अब तक संदेहवाद को अनुभववाद की अनिवार्य परिणति समझकर अनुभववाद को नकारा जाता रहा था परन्तु समसामयिक दार्शनिकों ने संदेहवाद को अनुभववाद का दूषण नहीं भूषण माना और कहा कि संदेहवाद का उद्देश्य सिर्फ यह दिखाना है कि जहां तार्किक अनिवार्यता सम्भव नहीं है वहां तार्किक अनिवार्यता की मांग एक प्रकार की मोहग्रस्तता है हठवादिता है और एक असंगति है।[31]

युग के अनुसार संशयवाद का स्वरूप चाहे जितना बदलता हो दार्शनिक संशयवाद सदैव मनोवैज्ञानिक संशय से मुक्त रहा है। मनोवैज्ञानिक संशय को एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में समझने की चेष्टा करता है। जब हम अंधेरे में किसी लम्बी लटकती हुई वस्तु को देखकर एक क्षण में यह अनुमान करते हैं कि यह सर्प है तथा दूसरे क्षण में यह अनुमान करते हैं कि यह रस्सी है। दार्शनिक सन्देहवाद में भी निश्चयात्मकता के अभाव की बात की जाती है। मनोवैज्ञानिक संशय अवस्था विशेष में किसी वस्तु विशेष के प्रति किसी ज्ञाता विशेष को होता है और दार्शनिक संशय प्रत्येक आनुभविक अवस्था में, प्रत्येक आनुभविक वस्तु पर प्रत्येक अनुभवकर्ता के लिए स्वीकार किया

जाता है।

तार्किक संदेहवाद यहा तक संदेहवाद है कि संदेह के आधार पर संदेहकर्ता को भी स्वीकार नही करता। उसके अनुसार संदेह एक विचारात्मक प्रक्रिया है और संदेहकर्ता एक संभावित सत्ता। विचार से सत्ता का अनुमान अवैध है। विचार से मात्र विचार सिद्ध होता है। अत संदेह की क्रिया से संदेहकर्त्ता सिद्ध नही होता।

किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से संदेह तभी होगा जबकि कोई संदेहकर्त्ता होगा।[32] यहा इस मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक धारणा के विरोध की तह मे जाकर देखने से कुछ और ही तथ्य सामने आएगा। तार्किक संदेहवादी संदेह को एक वस्तु के रूप मे स्वीकार करता है, और मनोवैज्ञानिक संशय को एक क्रिया के रूप मे स्वीकार करता है। इस चीज को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे, वृक्ष एक वस्तु है और उसके तना का हिलना एक क्रिया। तार्किक संदेहवादी के लिए संशय का कर्त्ता इसीलिए आवश्यक नही है क्योंकि वस्तु के लिए कर्ता आवश्यक नही। यहा यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु का कारण होता है अत अगर संशय वस्तु है तो इसका कारण (कर्त्ता) होना चाहिए। परंतु यह तक संदेहवादियों पर लागू नही होता क्योंकि संदेहवादी स्वत कार्यकारण नियम के सार्वभौम और अनिवार्य रूप पर संशय प्रकट करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान संशय को एक क्रिया के रूप मे स्वीकार करता है और क्रिया के लिए संशयकर्त्ता अनिवार्य है। यही कारण है कि देकार्त संशय के लिए संशय कर्त्ता को अनिवार्य कहता है।

इसी से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतर्निरीक्षण के आधार पर हम स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति को जब भी संशय होता है, यह संशय किसी विषय वस्तु के प्रति होता है। परन्तु उस विषय-वस्तु का यथार्थत उपस्थित होना अनिवार्य नही होता। यथा रात मे नींद खुलने पर हम कमरे का दरवाजा खोलकर आंगन मे जाने के पहले संशय करते हैं कि आंगन मे कोई चोर किसी घातक हथियार के साथ छुपा हुआ है या नहीं ? यहा संशय करते समय हमारे सामने यथार्थ जगत मे कोई वस्तु नही होती।

इस प्रकार हम पुन अपने मूल प्रश्न पर आते है कि संशय का स्वरूप क्या है ? इतना हम देख चुके है कि संशय की विषय वस्तु के रूप मे किसी अस्तित्ववान वस्तु का उपस्थित होना आवश्यक नही। किन्तु संशय की कोई विषय-वस्तु अवश्य होती है। प्रश्न है कि यह विषय वस्तु क्या है ?

संशय के स्वरूप का निर्धारण और संशय की विषय-वस्तु का निर्धारण करने के पूर्व हम भारतीय दर्शन मे बताए गए संशय के कुछ प्रकारो और कारणो को देखेंगे ताकि हम अधिक स्पष्ट होकर संशय का दार्शनिक स्वरूप निर्धारित कर सकें।

3 संशय के प्रकार

वात्स्यायन संशय के पाच प्रकार बताते हैं। इन्हे संशय का कारण भी कहा जा सकता है—

(क) साधारण धर्म के ज्ञान से उत्पन्न संशय[33] ऐसा संशय उन धर्मों के कारण होता है जो धर्म एकाधिक वस्तुओं में पाए जाते हैं, जैसे, लम्बाई का गुण मनुष्य और वृक्ष के तने में समान रूप में पाए जाने के कारण संशय होता है।

(ख) विशिष्ट धर्म के कारण उत्पन्न संशय[34] ऐसा संशय उस धर्म के कारण होता है जो धर्म किसी एक ही जाति में पाया जाता हो, उस जाति के समान या असमान दूसरी जाति में न पाया जाता हो। यथा—शब्द के संबंध में यह संशय कि यह शाश्वत है या अशाश्वत। क्योंकि यह न तो शाश्वत आत्मा या अणु में पाया जाता है और न अशाश्वत पृथ्वी और अग्नि में।

(ग) द्वन्द्वात्मक आप्तवचन[35] एक ही वस्तु के बारे में द्वन्द्वात्मक आप्त-संशय उत्पन्न होता है। यथा—आत्मा के सम्बन्ध में वचन से एक आप्त-वचन यह है कि आत्मा एक है दूसरा आप्तवचन है कि आत्मा अनेक है। इस प्रकार संशय होता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक।

(घ) उपलब्धि की अव्यवस्था[36] अनियमित प्रत्यक्ष के कारण भी संशय होता है। यथा कभी कभी तड़ाग में वर्तमान जल प्राप्त हो जाता है और कभी कभी (मरीचिका की स्थिति में) तड़ाग में जल नहीं बालू प्राप्त होता है। इस प्रकार संशय होता है कि तड़ाग में जल है अथवा नहीं?

(ङ) अनुपलब्धि की अनियमितता[37] अनुपलब्धि की अनियमितता से संशय होता है। यथा जिस वस्तु को वर्तमान समय में हम नहीं देख पा रहे हैं वह अस्तित्ववान है अथवा नहीं क्योंकि बहुधा कुछ उपाधियों के अभाव में हम अस्तित्ववान वस्तुओं को नहीं देख पाते।[38]

परन्तु परवर्ती नैयायिकों में से उद्योतकर और वाचस्पति ने मात्र दो प्रकार के संशय बताये हैं।[39] उनके अनुसार उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अनियमिततायें संशय का स्वतन्त्र कारण नहीं हैं। उसी प्रकार आप्त वचनों की द्वन्द्वात्मकता भी संशय की एक उपाधि मात्र है, स्वतन्त्र कारण नहीं। गंगेश[40] संशय के दो कारण बताते हैं—उपाधि का अविश्वसनीय होना तथा अनेक वस्तुओं में विभेदक गुण के बोध के बिना समान गुण का बोध।

वैशेषिक सभी संशयों को मूलतः एक ही प्रकार का बताते हैं क्योंकि वैशेषिकों के अनुसार सभी संशय अनेक वस्तुओं के समान धर्मों की उपस्थिति के कारण होते हैं।[41]

कुमारिल संशय के तीन कारण बताते हैं—अनेक वस्तुओं के समान धर्म, किसी वस्तु का विचित्र धर्म तथा एक ही वस्तु में विरोधी गुणों की प्रतीति। यथा वायु को आकारविहीन भी कहा जाता है तथा इसमें स्पर्श की शक्ति भी है ... । आकारविहीन होना प्रत्यक्ष के परे है जबकि स्पर्श का गुण प्रत्यक्ष ग्राह्य ... प्रत्यक्ष के योग्य और प्रत्यक्ष के अयोग्य व ...

4 ज्ञान और संदेह

संदेह क्या है ? इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या से अलग हटकर संदेह के जितने भी प्रकार या कारण बताए गए हैं उनके आधार पर संदेह के बारे में एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि संदेह में संदेह की विषय वस्तु के बारे में कोई निश्चित अभिकथन नहीं किया जाता।

परंतु संदेह में भी कोई वाक्य होता है, यथा, क्या अंधेरे में चोर है अथवा नहीं ? या अंधेरे में चोर है अथवा नहीं। प्रश्न है—इस वाक्य का रूप क्या है ? क्या यह वाक्य कोई प्रतिज्ञप्ति है अगर प्रतिज्ञप्ति है तो यह प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार है—निरपेक्ष, हेत्वाश्रित या वैकल्पिक ? ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अगर संदेह से संबंधित अभिकथन कोई प्रतिज्ञप्ति है तो यह ज्ञान हो सकता है अथवा नहीं। क्योंकि ज्ञान के लिए अगर सत्यता या यथार्थता का निर्णय प्रत्येक वाक्य पर नहीं किया जा सकता, यह निर्णय मात्र प्रतिज्ञप्ति पर नहीं दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में अगर संदेह को व्यक्त करने वाली प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है तो फिर दोनों बातें हो सकती हैं अर्थात संदेह ज्ञान भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। किंतु अगर प्रतिज्ञप्ति असत्य है तो संशय ज्ञान नहीं हो सकता है। यह प्रश्न किसी संशय से संबंधित नहीं है बल्कि संशय जाति से संबंधित है।

संशयात्मक वाक्य का रूप क्या है ? पाश्चात्य दार्शनिक बोसांक्वेट कुछ स्थितियों में संशयात्मक वाक्य को वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहते हैं।[43] जब हम संशय होता है कि अंधेरे में दिख रही लम्बी वस्तु आदमी है या वृक्ष का तना, तो अभिकथन का रूप होता है—या तो यह आदमी है या वृक्ष का तना।

परंतु बोसांक्वेट के इस कथन को स्वीकार करने में कठिनाई है। जब हम संशय के संबंध में निश्चित हो जाते हैं कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना, तो हमारा यह अभिकथन एक विश्वास की अभिव्यक्ति होता है। पुन, इस कथन के लिए हमारे पास प्रमाण भी होता है कि मैं उस वस्तु को देख रहा हूं यह लम्बी है, इस प्रकार की आकृति मनुष्य की भी हो सकती है और वृक्ष के तने की भी, आदि। और मान लें कि हमारा विश्वास सत्य भी निकलता है अर्थात वह वस्तु मनुष्य निकलती है। (या वृक्ष का तना, तब भी, क्योंकि वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के लिए उसके एक अणुवाक्य की सत्यता ही आवश्यक होती है) तो हमारा यह संशय कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना ज्ञान की कोटि में आ जाता है, बशर्ते जानने की वे तीनों उपाधियां वैध हों, जिन्हें पाश्चात्य अनुभववादी जानने के लिए अनिवार्य और पर्याप्त बताते हैं।

परंतु अगर जानने की ये तीनों उपाधियां वैध हैं तो संशय को वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहना इस परिभाषा में जरा घपला पैदा करता है। अगर जानने की अनिवार्य उपाधि विश्वास है तो संशय जो विश्वास का अभाव भले न हो, विश्वास का विरोधी पद अवश्य है, (इसकी विस्तृत विवेचना इसी अध्याय में आगे की जायगी) ज्ञान कैसे हो सकता है ? दूसरे शब्दों में, अगर ज्ञान एक प्रकार का सत्य विश्वास है तो यह संशय

कदापि नही हो सकता क्योकि सशय और विश्वास विरोधी पद हैं।

पर तु अगर जानने की वे तीनो उपाधिया वध नही हैं तो भी क्या सशय वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति हो सकती है? नही, वैसी स्थिति म भी सशय वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति नही हो सकती क्योकि वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति भी एक प्रकार का अभिकथन है और जसा कि बोसानवेट कहते हैं इस अभिकथन के बारे म आदमी निश्चित होता है अर्थात आश्वस्त होता है कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना। ऐसी स्थिति म यह वकल्पिक प्रतिज्ञप्ति एक प्रकार के विश्वास का अभिकथन है। अर्थात यह कहना कि अगर सशय निश्चित है तो यह निश्चय ही एक वकल्पिक प्रतिज्ञप्ति है यह कहने के समान है कि अगर सशय निश्चित है तो यह निश्चय ही एक प्रकार का विश्वास है—जो एक असगत बात है।

तब क्या सशय की अभिव्यक्ति प्रश्नवाचक वाक्यो म होती है? डॉ० सतीश च द्र चटर्जी उसे मन की एक अनिर्णीत प्रश्नवाचकता कहते हैं।[44] उनके अनुसार सशय को व्यक्त करने वाला वाक्य कोई निर्णय (अथवा प्रतिज्ञप्ति) है ही नही। यह अपने विषय वस्तु के सम्ब ध मे निश्चित रूप से कोई अभिकथन नही करता। सशय की स्थिति म न तो हम कुछ जान रहे होते हैं और न हमारा जानने का कोई दावा ही होता है। यहाँ तक कि हम यह भी नही कह सकते कि यह या तो क है या ख, बल्कि वाक्य यह होता है—क्या यह क है या ख है? इसी भाति डॉ० चटर्जी के अनुसार सशय के सम्ब ध म सत्यता का भी प्रश्न नही उठता।[45] क्योकि सशय कोई निर्णयात्मक अवस्था है ही नही। परम्परागत भारतीय दर्शन मे सशय को अप्रमा की श्रेणी म रखा गया है। नैयायिको के अनुसार सशय अप्रमा है, यद्यपि कभी कभी यह एक प्रकार की अनुभूति है तथापि यह प्रमा से भिन्न है क्योकि इसम न तो यथार्थत्व है और न प्रवृत्ति सामर्थ्य।[46] इस प्रकार सशय म निश्चयात्मकता का अभाव है और यह अनुभूति के सम्ब ध मे प्रश्न उपस्थित करता है।

5 सशय का अभाव—प्रमा की अनिवाय उपाधि के रूप मे

श्लोक वर्तिका[47] म प्रमा की परिभाषा करते हुए 'तस्मात दृढ' प्रयोग म आया है। कुमारिल के टीकाकारो मे उम्बेक ने इसका अथ सशय का अभाव कहा है अर्थात उम्बेक के अनुसार प्रमा की अनिवाय उपाधि उसका सशय रहित होना है।

इस प्रकार प्रमा की उपाधि के रूप म सशय का अभावात्मक स्थान है। भावात्मक रूप म सशय प्रमा की उपाधि नही है अर्थात अगर ज्ञान की विषयवस्तु सदिग्ध हो तो ज्ञान प्रमा नही है। इसके विपरीत अगर ज्ञान की विषयवस्तु असदिग्ध हो तो अ य उपाधियो क उपस्थित रहने पर ज्ञान प्रमा होगा।

पर तु मात्र सशय का अभाव प्रमा की उपाधि नही कहा जा सकता। यथा मुझे इस समय किसी प्रकार का सशय नही हो रहा है अथात् सशय का अभाव है पर तु सशय के अभाव की यह प्रतीति प्रमा की उपाधि नही है। वस्तुत प्रमा का एक विषय वस्तु

इनसे भिन्न पाश्चात्य दर्शन में कुछ संशयवादी विचारक हैं। प्रो० पोरस या ह्यूम की भांति इस प्रकार के वाद का समर्थक भारतीय दर्शन में एक भी दार्शनिक नहीं है। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि उपनिषद्-दर्शन के बाद के दार्शनिकों में संजय बेलट्ठिपुत्त नामक एक अनिश्चयवादी विचारक हुआ था जिसकी विचारधारा पाश्चात्य संशयवादियों के समान थी[43] परन्तु स्पष्टतः संजय वेलठपुत्त की विचारधारा भारतीय चिन्तन पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकी।

वस्तुतः संजय वेलटपुत्र के प्रभावहीन रह जाने का तथा दूसरा और [illegible] संशयवादी उत्पन्न न होने का कारण है। भारतीय दर्शन में [illegible] अर्थ में स्वतः साध्य नहीं है। अतः संशयवाद को ज्ञानमीमांसा में [illegible] साधन रूप नष्ट होता है क्योंकि अपने चरम रूप में [illegible] अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। पुनः पारमार्थिक अर्थ में भी [illegible] मानते हैं। कहीं-कहीं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का उल्लेख [illegible] का अर्थ मात्र ब्रह्म की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता [illegible] इस प्रकार पारमार्थिक अर्थ में भी संशयवाद [illegible] या परमार्थ तक पहुँचाने में असफल रहेगा तथा [illegible] सत्ता कहा गया है, संदिग्ध हो उठेगा, जो भारतीय [illegible] सकते। भौतिकवादियों में एकमात्र चार्वाक मोक्ष, परमार्थ, सत्ता, ईश्वर [illegible] या संभावना पर संदेह प्रकट करता है। [illegible] संतुष्ट नहीं होता अपितु वह [illegible]

चार्वाक का सीमित सदेहवाद समझा जाय तो भी इसका भारतीय दशन की धारा पर कोई दिग्दशक प्रभाव नही पडता। इसका कोई प्रभाव इस धारा पर पडता तो मात्र इतना कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमा के अन्य साधनो की स्थापना के लिए दूसरे भारतीय दार्शनिको ने अपने तर्कों को और पैना कर लिया।

(आ) विश्वास

पाश्चात्य दर्शन म विश्वास को जानना अथवा ज्ञान के सदर्भ मे समझने की चेष्टा की गई है। अर्थात ज्ञान के दार्शनिक विवेचन के क्रम म विश्वास' शब्द अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के सम्बन्ध मे परम्परागत मत जिसे सामान्यत प्लेटो से आरम्भ स्वीकार किया गया है,[49] म ज्ञान और विश्वास म समानता है और वह समानता मात्र इस बात म है कि ये दोनो मानसिक शक्तियाँ हैं। दूसरी समानता यह है कि व्यक्ति जिन प्रतिज्ञप्तियो (प्लेटो की भाषा म अभिकथन) को जानता है, उन्ह और जिन पर विश्वास करता है उन्ह भावात्मक और अभावात्मक प्रतिज्ञप्तियो मे व्यक्त कर सकता है, यथा—'मैं जानता हूँ कि प है', 'मैं जानता हूँ कि प नही है', 'मैं विश्वास करता हूँ कि प है', मैं विश्वास करता हूँ कि प नही है'। किन्तु प्लेटो के अनुसार इस समानता के अतिरिक्त जानना और विश्वास परस्पर भिन्न मानसिक शक्तियाँ हैं और जिस भाति प्रेम और मैत्री को एक दूसरे से परिभाषित नही किया जा सकता, विश्वास और जानने को भी एक दूसरे से परिभाषित नही किया जा सकता।[50]

इस प्रकार प्लेटो ने विवाद के दो मुख्य विषय दार्शनिको के समक्ष रखे

(क) क्या विश्वास मानसिक शक्ति है ?

(ख) क्या विश्वास तत्वत ज्ञान से अलग है जिसकी परिभाषा ज्ञान से स्वतत्र रूप से दी जा सकती है ?

1 रसेल का मत

रसेल के अनुसार विश्वास को मानसिक अवस्था नही कहा जा सकता क्योकि विश्वास की अनेक ऐसी स्थितियाँ होती है जब व्यक्ति का व्यवहार सर्वथा शारीरिक स्तर पर होता है। किंतु बहुधा विश्वास मानसिक अवस्था भी प्रमाणित होता है और ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि विश्वास शारीरिक और मानसिक दोनो स्थितियो का मेल प्रमाणित होता है। अत रसेल के अनुसार विश्वास मात्र मन या मात्र शरीर से सबधित नही है बल्कि मानव सरचना की एक विशेष अवस्था है।[51]

विश्वास और ज्ञान का सबध कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे रसेल कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान एक प्रकार का सत्य विश्वास है किंतु प्रत्येक सत्य विश्वास ज्ञान नही है।[52] ज्ञान और सत्य विश्वास का अतर प्रमाण के आधार पर किया जाता है। सत्य विश्वास जो ज्ञान नही है, के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही। जैसे लाटरी के टिकट का एक खास नम्बर कोई व्यक्ति इस विश्वास के साथ खरीदता है कि इस नम्बर पर इनाम

आएगा और वस्तुत लॉटरी खुलने पर उस पर इनाम आता है तो भी यह स्थिति सत्य विश्वास की है। परंतु जानने की स्थिति में सत्यता और विश्वास के अतिरिक्त पर्याप्त प्रमाण (मात्र प्रमाण ही काफी नही है) अनिवार्य होता है।[53]

किंतु यहा प्रो० प्राईस का मत उल्लेखनीय है जो कहते हैं कि विश्वास के लिए भी प्रमाण होता है। प्रो० प्राईस प्रतिज्ञप्ति 'प' मे विश्वास करने के लिए उस स्थिति के चार खण्डो को बताते हैं

(i) प्रतिज्ञप्ति 'प' को अन्य विकल्पो क, र इत्यादि के साथ ग्रहण करना।

(ii) किसी तथ्य त को 'प' क, र इत्यादि के अनुरूप जानना।

(iii) यह जानना कि त क और र की अपेक्षा 'प' को अधिक सगत बनाता है।

(iv) 'प' को स्वीकार करना, अर्थात

(अ) 'प' को क और र की अपेक्षा प्रधानता देना।

(आ) 'प' के लिए एक निश्चित मात्रा मे स्थिरता की अनुमति।[54]

इस प्रकार सामान्य रूप से प्राईस विश्वास के लिए दो प्रकार की उपाधियो—मानसिक और बाह्य की चर्चा करते हैं। मानसिक स्थिति वह है जिसमे विश्वासकर्त्ता किसी प्रतिज्ञप्ति को ग्रहण करता है। प्रो० प्राईस स्पष्ट शब्दो मे विश्वास को एक मानसिक स्थिति कहते हैं[55] जिसकी अनिवार्य उपाधि विश्वास की जा रही या विश्वास की जाने वाली प्रतिज्ञप्ति के पक्ष मे प्रमाण का होना है।[56] यह प्रमाण ही विश्वास की बाह्य उपाधि है।

इस आधार पर रसल के आलोचक भी रसेल से यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या वस्तुत विश्वास प्रमाणो से सर्वथा शून्य होता है? जो व्यक्ति लॉटरी के टिकटों के निश्चित नम्बर के इनाम पाने की इच्छा से खरीदता है क्या उसके विश्वास की तह मे तथ्य काम नही कर रहा होता कि यह नम्बर उसके लिए भाग्यशाली है और यह नम्बर उसके लिए भाग्यशाली है इस कथन के लिए क्या यह प्रमाण वह नही दे सकता कि लाटरी टिकट के इस नम्बर की समस्त सख्याओ का योगफल नौ होता है और सख्या नौ सदव उसके लिए भाग्यशाली रहा है, जैसे कि उसका जन्मदिन 9 9 (नौ सितम्बर) को है, जिस दिन उसे नौकरी मिली वह दिन भी किसी महीने की नौ तारीख थी—आदि। यहा रसेल या रसेल के समर्थक सम्भवत यह कहना चाहेंगे कि ये सारे तथाकथित प्रमाण पर्याप्त प्रमाण की श्रेणी मे नही रखे जा सकते और ज्ञान तथा विश्वास का अतर पर्याप्त प्रमाण के ही आधार पर किया जाता है।

किंतु पर्याप्त प्रमाण क्या है? कब कोई प्रमाण या प्रमाण समूह पर्याप्त का विशेषण पा लेता है? इस समस्या की जटिलता पर हम आगे प्रमाण वाले अध्याय मे चर्चा करेंगे।

2 एयर का मत

एयर भी जानना और विश्वास के बीच इस प्रकार का भेद प्रस्तुत करते हैं कि विश्वास की स्थिति म जिस प्रकार के तक का सहारा लिया जाता है वह तक साधारणत बुद्धिगम्य नही होता जबकि जानने के दावे को पुष्टि के लिए जिस प्रकार के तक का सहारा लिया जाता है वह बुद्धिगम्य होता है।[57]

लेकिन किस प्रकार के प्रमाण को बुद्धिगम्य कहगे? बहुधा बुद्धिगम्यता विषयिसापेक्ष होता है। कोई तक एक के लिए बुद्धिगम्य हो सकता है दूसरे के लिए बुद्धिगम्य नही भी हो सकता है। आइस्टाईन का सापेक्षवाद एक वैज्ञानिक के लिए बुद्धिगम्य है किंतु विज्ञान के नियमो से सवथा अनभिज्ञ किसी व्यक्ति के लिए यह सिद्धान्त बुद्धिगम्य नही हा सकता है।

लेकिन यहाँ यह कहा जा सकता है कि बुद्धिगम्यता की विषयिसापेक्षता को एयर के मत के विरुद्ध प्रयुक्त नही किया जा सकता। क जिस प्रतिज्ञप्ति को जानने का दावा करना है उस प्रतिज्ञप्ति के लिए क के पास जो प्रमाण हैं अगर व प्रमाण क के लिए बुद्धिगम्य हैं तो क उस प्रतिज्ञप्ति को जानता है, भले ही वे प्रमाण ख के लिए बुद्धिगम्य नहीं हो। इसी प्रकार ख किसी प्रतिज्ञप्ति 'प' को जानने का दावा क्ष प्रमाण के आधार पर करता है और अगर क्ष ख के लिए बुद्धिगम्य है तो अन्य उपाधियो को पूरा करने की स्थिति म ख 'प को जानता है भले ही क्ष क के लिए बुद्धिगम्य नही हो।

किंतु इससे एक दूसरी समस्या उठती है। एक उदाहरण पर विचार करें। कोई व्यक्ति क रेस मे सात नम्बर के घोडे पर नम्बर लगाता है। क का विश्वास है कि इस रेस में सात नम्बर का घोडा जीतेगा। इसम विश्वास के लिए क के पास प्रमाण है कि जब भी रेस चार बजकर दस मिनट पर शुरू होती है और सात नम्बर के घोडे पर नम्बर लगान वालो म कोई दक्षिण भारतीय व्यक्ति होता है तो सदैव सात नम्बर का घोडा रेस जीतता है। इस बार रेस चार बजकर दस मिनट पर शुरू होने वाली है, नम्बर लगाने वालो मे एक दक्षिण भारतीय है। अत इस बार भी रेस का विजेता सात नम्बर का घोडा है। अब मान लें वस्तुत रेस की समाप्ति पर सात नम्बर का घोडा विजेता घोषित होता है तो क्या हम कहगे कि क इस प्रतिज्ञप्ति को जानता था कि 'इस बार की रेस का विजेता सात नम्बर का घोडा है'? यहाँ प्रतिज्ञप्ति सत्य भी है, क को उसमे विश्वास भी है और यह विश्वास क के लिए बुद्धिगम्य भी है, तथापि निश्चय ही यह स्थिति जानने की स्थिति नही है।

एयर भी इस प्रकार की स्थितियो का जानने की सज्ञा नही देते।[58] किंतु एयर के अनुसार य स्थितियाँ जानने की स्थितियाँ इसलिए नही हैं कि साधारणत य प्रमाण विश्वसनीय नही माने जाते।

किंतु साधारणत का क्या अथ है? साधारणत विश्वसनीय का अथ है सामान्य व्यक्ति क लिए विश्वसनीय होना। इस प्रकार एयर सवथा व्यक्ति सापेक्ष उपाधि को जानना और विश्वास क अतर क रूप म प्रतिष्ठित नही करना चाहते। अत बुद्धि

गम्यता के जिस अर्थ की व्याख्या हम ऊपर कर आए हैं वह अर्थ एयर की ज्ञानमीमांसा में स्वीकृत नहीं हो सकता।

तब, बुद्धिगम्यता की युक्तिसंगत व्याख्या के लिए हम एक सामान्य बुद्धि की बात करनी चाहिए। इस रूप में बुद्धिगम्यता का अर्थ है सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य। किंतु सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य प्रमाण को जानना और विश्वास के बीच की विभेदक रेखा बनाने में कठिनाई है। बहुधा कुछ तर्क सामान्य बुद्धि स्वीकार कर लेती है किंतु वे तर्क बौद्धिक नहीं होते और न उनमें यथार्थता होती है। जैसे मध्य युग में पृथ्वी को गोल न स्वीकार करने के लिए यह तर्क सामान्य बुद्धि स्वीकार करती थी कि इससे ईश्वर नाराज होंगे। परंतु न तो यह बौद्धिक है और न यह तथ्य ही है कि पृथ्वी गोल नहीं है।

परंतु यहाँ यह कहा जा सकता है कि सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य कहने का अर्थ जनसामान्य को स्वीकार्य होना नहीं है। सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य होने का अर्थ है—तर्क का बौद्धिक होना।

परंतु कठिनाई यहाँ भी है। बौद्धिकता क्या है? कब किसी तर्क का बौद्धिक कहेंगे? वस्तुतः बौद्धिकता एक अस्पष्ट संप्रत्यय है और इस प्रकार किसी अस्पष्ट संप्रत्यय का अर्थ स्पष्ट किए बिना ज्ञानमीमांसा में उस संप्रत्यय के प्रयोग से भ्रामकता का दोष आता है।

3 वूजले का मत

ए० डी० वूजले विश्वास को मानसिक क्रिया अथवा अवस्था न मानकर उसे वृत्ति मानते हैं।[59] किंतु वूजले के अनुसार विश्वास को मात्र वृत्ति कह देना भी यथेष्ट नहीं है। इसी संदर्भ में वूजले वृत्ति का तात्पर्य निरूपण भी निरर्थक कहते है।[60]

विश्वास के लिए प्रमाण का होना वूजले भी अनिवार्य बताते हैं। उनके अनुसार कोई भी विश्वास अकारण या प्रमाण रहित नहीं होता है। वस्तुतः जिस प्रमाण को हम विश्वास रहित समझते हैं उसमें बात सिर्फ इतनी सी होती है कि जिस प्रमाण के आधार पर हम विश्वास करते हैं, उन प्रमाणों को दूसरों के सामने रखते हुए हम हिचकते हैं कि इन प्रमाणों की, जैसे 'अंतःप्रज्ञा से मुझे इसका विश्वास हो गया', दूसरा आदमी प्रमाण मानेगा या नहीं?[61] किंतु जानना और विश्वास के अंतर अथवा संबंध के प्रश्न पर वूजले मानते हैं कि जानना और सत्य विश्वास में तत्वतः कोई भेद नहीं है।[62] बल्कि सत्य विश्वास की मात्रा में वृद्धि किसी सत्य विश्वास को ज्ञान की श्रेणी में पहुंचा देती है।[63] विश्वास की जिन छः स्थितियों का वर्णन वूजले करते हैं[64] उससे स्पष्ट होता है कि वूजले भी प्राईस की भांति यह स्वीकार कर रहे हैं कि विश्वास सत्य या असत्य हो सकता है किंतु जानना अनिवार्यतः सत्य होता है।

इस संदर्भ में प्रो० प्रीचर्ड का मत वूजले और प्राईस के मत से भिन्न है। प्रो० प्रीचर्ड के अनुसार जानना और विश्वास तत्वतः दो हैं और न तो इनमें जाति उपजाति

का सबध है और न ये एक जाति की दो उपजातियाँ हैं।[65] प्रो० प्रीचड के अनुसार जानना और विश्वास म निम्नलिखित भेद है[66]—

(क) जानना सदैव सत्य होता है जबकि विश्वास सत्य हो सकता है असत्य भी।

(ख) जानना और विश्वास का अतर अन्तर्निरीक्षण स प्रकट होता है।

किंतु नामन मालकाम ने प्रो० प्रीचड के इस मत का विरोध किया है।[67] उनके अनुसार अनेक ऐस उदाहरण हैं जिन्हे अ तर्निरीक्षण के आधार पर हम जानना क उदाहरण समझते हैं किंतु बाद म असत्य प्रमाणित होने पर वे विश्वास के उदाहरण सिद्ध होते हैं।

वस्तुत ऊपर के समस्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि यहाँ विश्वास को जानना के सदर्भ म समझने की चेष्टा की गई है। किंतु अभी तक जानना स्वत एक अस्पष्ट सप्रत्य है जिसे समझने के लिए हम विश्वास के सप्रत्यय की व्याख्या कर रहे है। अत इस चक्रक दोष (विश्वास के द्वारा जानना को समझने की चेष्टा और जानना क द्वारा विश्वास को समझने की चेष्टा) से बचने के लिए हम जानना से पृथक विश्वास को समझने की चेष्टा करें और यह निर्धारित कर लेने के बाद कि विश्वास क्या है? हम यह निर्धारित करने की चेष्टा करें कि विश्वास और जानना के बीच का भेद और सबध कैसा है?

4 विश्वास के विभिन्न प्रयोग

वेब्स्टर अंग्रेजी शब्दकोश म विश्वास (बिलीफ) के निम्नलिखित पाच अर्थ दिए गए हैं

(क) विश्वास करने की स्थिति[68]—मैं जिस समय विश्वास कर रहा होता हू, उस समय मेरे मन म क्या रहता है? यह नि शकता हो सकती है या किसी वस्तु की सत्यता या वास्तविकता की स्वीकृति हो सकती है। यहाँ व्यक्ति के विश्वास करने की मानसिकता का वणन रहता है।

(ख) आस्था[69]—'ईश्वर म मुझे विश्वास है', यहा व्यक्ति मात्र अपनी मानसिकता का वणन नही कर रहा होता और न यह कह रहा होता है कि मैं इस क्षण विशेष मे इस प्रकार के विश्वास की मानसिकता म हू। यहाँ विश्वास कर रहे होने की मानसिक प्रक्रिया की बात नही की जाती। यहाँ किसी वस्तु म अपनी आस्था प्रकट की जाती है।

(ग) भरोसा[70]— मुझे उसकी योग्यता पर विश्वास है', इसका अथ है कि मैं उस पर भरोसा करता हूँ और यह भरोसा इस प्रकार का है कि आवश्यकता पडने पर वह अपनी योग्यता प्रदर्शित कर सकता है।

(घ) स्वीकृति[71]— मैं अपने धम पर विश्वास करता हू अर्थात मैं अपने धम के कथनो स सहमत हूँ।

(ङ) धारणा[72]— मेरा विश्वास है कि यदु अच्छा लडका है' अर्थात मेरी

ऐसी धारणा है कि यदु अच्छा लडका है।

5 विश्वास की सभी स्थितियो मे सामान्य

प्रश्न है कि जिन सारी स्थितियो के लिए हम विश्वास का प्रयोग करते हैं वे सभीस्थितिया भिन्न भिन्न दिखती हैं। फिर भी इनके लिए हम एक ही पद 'विश्वास' का प्रयोग क्यो करते हैं ? यह प्रयोग क्या भाषा का अलकारिक प्रयोग मात्र है या इन स्थितिया मे कुछ सामान्य है ? अगर हाँ, तो वह सामान्यता क्या है ? और अगर नही, तो दर्शन मे जानने की उपाधि के रूप से जिस विश्वास का प्रयोग होता है वह इनमे से किस प्रकार का विश्वास है ? अथवा ज्ञानमीमासा म जानने की उपाधि के रूप म विश्वास का प्रयोग किस अर्थ म किया जाता है ?

इन प्रश्नो के उत्तर के लिए हमे सामान्यत विश्वास की दी जाने वाली परिभाषा को समझना होगा। 'वेब्स्टर' म विश्वास की व्यापक रूप से जो परिभाषा स्वीकार की गई है (जो इसका प्रतिदिन के जीवन म सर्वाधिक मानक प्रयोग है) उसके अनुसार विश्वास किसी वस्तु की सत्यता की मानसिक स्वीकृति होती है। यहाँ आवश्यक नही है कि वह निरपेक्ष रूप से सत्य हो।

इस परिभाषा मे निम्नलिखित बातें हैं

(i) विश्वास एक प्रकार की मानसिकता है।
(ii) यह मानसिकता किसी तथ्य को स्वीकार करने की है।
(iii) विश्वास की स्थिति म निरपेक्ष सत्यता आवश्यक नही है।

विश्वास की परिभाषा के इन तीन बिन्दुओ मे तीसरा बिन्दु अस्पष्ट है। निरपेक्ष सत्यता का अर्थ क्या है ? निरपेक्ष का अर्थ है किसी दूसरे तथ्य या वस्तु के सापेक्ष नही होना या उस तथ्य या वस्तु का कोई असर इस तथ्य या वस्तु पर न होना। इस प्रकार निरपेक्ष सत्यता का एक अर्थ हो सकता है कि विश्वास की स्थिति म जिस वस्तु को हम स्वीकार करते है वह स्वीकृति उस वस्तु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ से सर्वथा अप्रभावित रहती है। यथा—जिस वस्तु पर या प्रतिज्ञप्ति पर हम विश्वास कर रहे हैं इस प्रतिज्ञप्ति के विपक्ष म अगर कोई प्रमाण हमारे सामने आता है तब भी यह प्रमाण हमारे विश्वास पर असर नही डालता। और यहाँ तक कि जिस वस्तु के होने का हम विश्वास कर रहे हैं, वस्तु जगत म उसके उपस्थित होने या न होने से उस विश्वास का कोई सबध नही है।

परतु निरपेक्ष सत्यता का यह अर्थ विश्वास को आस्था की कोटि म ले जाता है। वर्तमान ज्ञानमीमासीय विवेचन म हम विश्वास के जिस अर्थ का विवेचन करते हैं उस अर्थ म विश्वास इतना अधा नही है। जो व्यक्ति ईश्वर मे आस्था रखता है उसकी आस्था मे और जो व्यक्ति यह विश्वास करता है कि पृथ्वी चपटी है—उसके विश्वास म अतर है। ईश्वर म आस्था रखने वाला व्यक्ति महज दो चार या दस प्रमाणो के आधार पर ईश्वर के प्रति अनास्था नही प्रकट कर देगा। यहा तक कि कुछ ऐसी बाते भी जो उसकी

बुद्धि को उचित प्रतीत हो सकती हैं और ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करती हैं, उसकी आस्था को खत्म न कर सकेंगी। वह आस्तिक व्यक्ति वहाँ कहेगा कि य ईश्वर की लीला है हम इस नही जान और समझ सकते। लेकिन विश्वास की स्थिति म दो चार एस प्रमाण जो बुद्धि को उचित नही लगते विश्वास का खण्डन कर देते हैं।

अत विश्वास के सदभ म निरपेक्ष सत्यता का अथ दूसरा है। वहाँ निरपेक्ष सत्यता का अथ है कि प्रमाण के नही होन पर भी (विरोधी प्रमाण के उपस्थित होने की बात यहाँ नही की जा रही है) या वस्तु या वस्तुस्थिति क नही होने पर भी विश्वास हो सकता है।

परतु क्या वस्तुत विश्वास की प्रत्येक अवस्था म बिना किसी प्रमाण क विश्वास हो जाता है? नही एसी बात नही है। हम दख चुक हैं कि विश्वास के लिए भी हमारे पास कुछ-न-कुछ प्रमाण अवश्य होते हैं। तब यह बात अलग है कि जिन्हें हम विश्वास की स्थिति म प्रमाण की सज्ञा दते हैं ये वस्तुत प्रमाण न हो।

तब, सम्भवत जानने और सत्य विश्वास म यही अतर है कि जानने की स्थिति मे प्रतिज्ञप्ति के लिए जिस प्रकार के प्रमाण हमारे पास होते हैं और विश्वास की स्थिति मे जो प्रमाण हमारे पास होत हैं वे प्रमाण वध नही भी हो सकते।

लेकिन अब एक दूसरी स्थिति की चर्चा करें। मान लें अपने घर के सामन स गुजरने वाली सडक पर अपने घर से कुछ दूर अपन घर पर खडे-खडे हम भीड का एक गोल घेरा देखें, पुलिस की गाडी का उस भीड के दायरे को चीरकर अदर जाते देखें, वही आस-पास एम्बुलेंस देखें और तब कह मुझे विश्वास है वहाँ कोई दुघटना हो गयी है। अब मान लें वस्तुत वहा कोई दुघटना हो गयी हो। एसी स्थिति म प्रतिज्ञप्ति मुझे विश्वास है वहाँ कोई दुघटना हो गयी है के लिए हमारे पास जानने की तथाकथित तीनो उपाधियाँ उपस्थित हैं—(i) प्रतिज्ञप्ति सत्य है (ii) प्रतिज्ञप्ति म मुझ विश्वास है (iii) प्रतिज्ञप्ति के पक्ष म जो प्रमाण हैं वे वैध हैं। यदि मुझे स्पष्ट अनुभूति हो रही है कि यह विश्वास ही है ज्ञान नही, तब यह विश्वास की स्थिति होगी और यहाँ हम इस प्रतिज्ञप्ति के ज्ञान का दावा नही कर सकते। किन्तु ध्यातव्य है कि इस स्थिति को विश्वास की स्थिति कहने का एकमात्र कारण मेरी अनुभूति है। तब, क्या सत्य विश्वास और जानने का अतर अन्तर्निरीक्षण से स्पष्ट होता है? नामन मालकाम इस स्वीकार करने मे आपत्ति करते हैं।

6 विश्वास और जानने की सत्यता तथा वैधता मे अन्तर

ये सारी कठिनाइया सभवत इसलिए उपस्थित हो रही है कि हम दो प्रश्नो को एक करके देख रहे हैं। विश्वास की सत्यता लिए आवश्यक उपाधि और विश्वास की वधता के लिए आवश्यक उपाधि दोनो दो हैं।[3] उसी प्रकार जानने की सत्यता की उपाधि और जानने की वैधता की उपाधि दोनो दो हैं। किसी प्रतिज्ञप्ति प म विश्वास की सत्यता का दावा एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और इस दावे की जाँच अन्तर्निरीक्षण से ही

होती है। अर्थात् विश्वास का दावा करने वाला व्यक्ति स्वत जानता है कि उसका दावा सत्य है या नहीं। किंतु किसी प्रतिज्ञप्ति प म विश्वास की वैधता के लिए अन्तर्निरीक्षण का स्वीकृति के अतिरिक्त अन्य उपाधियाँ होती हैं। इसी प्रकार किसी प्रतिज्ञप्ति प के जानने की स्थिति सत्य होने के लिए अन्तर्निरीक्षण आधार होता है। किंतु किसी प्रतिज्ञप्ति प को जानन को वैधता के लिए अन्तर्निरीक्षण की स्वीकृति के अतिरिक्त अन्य उपाधियो का होना आवश्यक है।

इस प्रकार जानने और सत्य विश्वास के बीच का अतर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जानने की स्थिति को और सत्य विश्वास की स्थिति को तथा उसके अतर को व्यक्ति अन्तर्निरीक्षण से जान जाता है।

7 विश्वास और जानना

तब क्या विश्वास और जानना तत्वत भि न हैं? निश्चय ही। विश्वास और जानना भिन्न हैं तभी अन्तर्निरीक्षण से हम इन स्थितियो को साफ साफ पहचान लेते है। इस स्थिति को कुछ और अधिक स्पष्ट एक उदाहरण से किया जा सकता है—कोई व्यक्ति क कहता है—'मेरा विश्वास है कि सात नम्बर का घोडा रेस जीतेगा'। यह विश्वास है और इसमे तीन बातें हैं (1) क प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास करन की मन स्थिति म है। (11) इस विश्वास के लिए उसके पास प्रमाण हैं (यथा यही घोडा बराबर जीतता है) (111) घोडा रेस जीत जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें—क कहता है—'मैं जानता हूँ कि लालकिला दिल्ली मे है'—इसम तीन बातें है—(1) क प्रतिज्ञप्ति को जानन की मन स्थिति मे है। (11) प्रतिज्ञप्ति के लिए उसके पास प्रमाण हैं। (111) प्रतिज्ञप्ति सत्य है।

परतु सत्य विश्वास और जानने क अतर को इस प्रकार मन स्थिति द्वारा निश्चित करने मे एक कठिनाई है। मान लें कि क अपनी मन स्थिति को ठीक ठाक सूचना नही देता और जहाँ वह जानने की मन स्थिति मे नही होता, विश्वास की मन-स्थिति म होता है परतु यह जानने का दावा कर देता है ऐसी स्थिति मे उसके दाव की वैधता की जाँच क्या होगी? वह कहता है मैं जानता हूँ कि सात नम्बर का घोडा रेस जीतगा। जबकि वस्तुत वह विश्वास की मन स्थिति म होता है। तब हमारे पास यह कहने का क्या आधार होगा कि वह जानता नही है बस, विश्वास करता है?

वस्तुत, कोई भी व्यक्ति दूसरे के मन की बात सदेहवादी प्रहारो से अपने-आप को बिल्कुल बचाकर जानने का दावा नही कर सकता, परतु उस प्रकार के हठवाद से अलग हटकर देखा जाय तो व्यक्ति मुख्यत दो आधारो पर दूसरो के मन की बातें जानता है और जाँचता है—एक तो उसके कथन और शारीरिक तथा मानसिक व्यवहार के आधार पर तथा दूसरे अपने आप का उस स्थिति म रखकर अन्तर्निरीक्षण के द्वारा।[74] अब अगर क के जानने क दावे की जाच करनी है तो हमे अपने आप को क की मन-स्थिति म ले जाना होगा। हमे देखना होगा कि जिन प्रमाणो के आधार पर क प्रतिज्ञप्ति

को जानने का दावा कर रहा है उन प्रमाणा के आधार पर क्या मैं नि शक होकर किसी तथ्य को स्वीकार कर लें सकता हूँ? अगर हाँ तो क के जानने का दावा वध है अयथा अवंध।

आरम्भ म हम लोगो ने विश्वास और नि शकता को समस्या को क्रमश पाश्चात्य और भारतीय ज्ञानमीमासा की पृष्ठभूमि मे उठाया था किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि नि शकता पर मात्र भारतीय दर्शन का एकाधिकार स्वीकार करना सही नही है। विश्वास से हटकर नि शकता की चर्चा पाश्चात्य दार्शनिको ने भी की है, जिस पर विचार करना अपेक्षित है।

(इ) विश्वास बनाम नि शकता

नि शकता और विश्वास इन दो पदो की भिन्नता को हम इन कथनो के आधार पर समझ सकते है। बहुधा हम कहते हैं—'मरा ऐसा विश्वास है पर मैं नि शक नही हू। या 'मेरा विश्वास है कि मेरा जो सामान चोरी हुआ वह अभी शहर के बाहर नहा गया है, परतु इस विषय मे मैं नि शक नही हूँ।'[75] स्पष्टत 'विश्वास करना' और 'नि शक होना' दो बातें हैं। नि शकता सशय के अभाव का द्योतक है जबकि विश्वास की स्थिति मे व्यक्ति को सशय रह सकता है।'[76]

बहुधा नि शक होना जानने के अथ मे प्रयोग किया जाता है।[77] किंतु यह भाषा का गलत प्रयोग है। नि शक होने और जानने मे अतर है। जब व्यक्ति कहता है कि मैं क के सबध मे नि शक हूँ और वह झूठ नही बोल रहा होगा या नि शकता क सबध म किसी प्रकार की गलती नही कर रहा होता तो वह वस्तुत क के सबध म किसी प्रकार के सशय से मुक्त होता है किंतु नि शकता की स्थिति की बाह्य जाँच मे नि शकता असत्य भी हो सकती है। अर्थात् जब व्यक्ति किसी प्रतिज्ञप्ति के सबध म नि शकता का अनुभव करता है और वह अपनी अनुभूति के सम्बन्ध मे कोई गलती नही कर रहा होता या झूठ नही बोल रहा होता तो उनकी नि शकता की अनुभूति सदव सत्य ही रहेगी किंतु इसके बाद भी यह सभव है कि जिस प्रतिज्ञप्ति के प्रति वह नि शक हो वह प्रतिज्ञप्ति असत्य हो। किंतु जानने की स्थिति म प्रतिज्ञप्ति असत्य भी हो सकती है। इस प्रकार नि शकता निश्चितता से भी भिन्न है। निश्चितता की स्थिति म भी असत्यता की कोई सभावना नही होती।

ऊपर हम नि शकता का एक अर्थ देख आए हैं जहाँ नि शकता विश्वास से भिन्न है। यद्यपि बहुधा नि शक पद का प्रयोग विश्वास की चरम मात्रा की स्थिति के लिए ही होता है।[8] किंतु जसाकि मूर कहते हैं कि कही-कही विश्वास होते हुए भी नि शकता का अभाव (सशय क अभाव का अभाव अर्थात् सशय ग्रस्तता) हो सकता है। इस अथ मे विश्वास और सशय का अभाव अथात नि शकता समानाथक नही है किंतु नि शकता के दूसरे अथ के अनुसार जिसका उल्लेख प्राइस करते हैं विश्वास अपने चरम रूप म सशय के अभाव को समाहित करता है अत विश्वास और सशय का अभाव अथवा नि

शकता समानायक न होते हुए भी बहुधा विश्वास की स्थिति मे सशय का अभाव होता है।

पाश्चात्य ज्ञानमीमासा मे जानने की उपाधि के रूप मे जब विश्वास की चचा की जाती है तो वहां विश्वास का अथ विश्वास की यही चरम मात्रा है जहां सशय का अभाव होता है। इस अथ म भारतीय दशनाक्त प्रमा की उपाधि के रूप मे सशय का अभाव और पाश्चात्य दशनोक्त जानना की उपाधि के रूप मे विश्वास, शब्द-भेद के बाद भी तथ्यत एक ही है।

० ०

सन्दभ

1 हॉस्पर्स, जॉन, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफिकल एनालिसीस, पृ० 18
2 ग्रीफीत्स, पी०, नॉलेज एण्ड बिलीफ, प० 63
3 रसेल बी०, ह्यूमैन नालेज, इट्स स्कोप एण्ड लिमीट्स, पृ० 170
4 श्लोकवर्तिका, 2/80
5 तकभाषा, प० 14
6 वूजले, ए० डी०, ज्ञानमीमासा परिचय, पृ० 199-202
7 समानानेकधर्मोपपत्तेविप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यव्यवस्थतश्च विशेषापेक्षो विमश सशय न्यायदशनम् वात्स्यायन भाष्य, प्रथमोध्याय, प्रथमाह्लिकम् सूत्र 23, पृ० 67
8 एकस्मिन धर्मानि विरुद्ध नानाधमवशिष्ट्य ज्ञानम सशय, तकसग्रह, पृ० 82
9 श्लोकवर्तिका, प० 2/54
10 भट्ट जी० पी०, एपिस्टोमोलॉजी ऑफ दि भट्ट स्कूल आफ पूवमीमासा, पृ० 93
11 चटर्जी, एस० सी०, न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज, प० 29
12 वही, पृ० 29
13 एयर, ए० जे०, दि प्रोब्लम्स आफ नालेज, पृ० 7
14 चटर्जी, पी० बी०, आउट लाइन्स आफ जनरल फिलासफी, एलेवें थ एडीशन, दि आउथर, 32, वेडन स्ट्रीट, कलकत्ता, पृ० 19
15 वही, प० 18
16 स्टस, डब्लू० टी०, ए क्रीटीकल हिस्ट्री आफ ग्रीक फिलासफी, लदन, मकमिलन एण्ड कम्पनी लि०, न्यूयाक, 1964, पृ० 114
17 होमोमेन्स्यूरा
18 वही, पृ० 116 118

19 वही, पृ० 118
20 वह, पृ० 361
21 कोजिटो अरगो सम
22 फालकेनबग आर०, ए हिस्ट्री ऑफ माडन फिलॉसफी, मकमिलन, न्यूयाक, 1941, पृ० 23
23 वही, प० 228
24 स्मिथ, एम० के०, दि फिलॉसफी आफ डविड ह्यूम, ऑक्सफाड युनीवर्सीटी प्रम, लदन, 1941 प० 365।
25 फालकेनबग, आर०, हिस्ट्री ऑफ माडन फिलॉसफी, पृ० 223
26 थिल्ली, एफ०, ए हिस्ट्री ऑफ मॉडन फिलॉसफी सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1928, पृ० 378
27 फालकेनबग, हिस्ट्री आफ माडन फिलासफी, पृ० 228
28 चटर्जी, पी० बी०, आउट लाइंस ऑफ जेनरल फिलॉसफी पृ० 10 20
29 एयर, ए० जे०, दि प्रोब्लम्स ऑफ नालेज, पृ० 36
30 वही, पृ० 36
31 वही, पृ० 36-82
32 वस्तुत मनोविज्ञान सशय जैसी सज्ञा पर पृथक रूप से विचार नही करता। वह इस भ्रम, विभ्रम, प्रत्यक्षीकरण का मिला-जुला रूप मानता है। किन्तु इस व्याख्या मे भी सशय की क्रिया सदैव किसी व्यक्ति या सशयकर्त्ता के मन म होती है।
33 समानधर्मोपपदेविप्रापेक्षो विमश सशय इति।
34 अनेकधर्मोपपत्तेरिति।—वही, पृ० 69।
35 विप्रतिपत्तेरिति।—वही, पृ० 70
36 उपलब्ध्यव्यवस्थात।—वही, पृ० 70
37 अनुपलब्ध्यव्यवस्थात।—वही, पृ० 70
38 न्यायभाष्य 1/1/23
39 न्यायवर्तिका, तथा न्यायवर्तिका टीका 1/1/23
40 तत्वचितामणि, भाग 2, पृ० 210 211
41 न्याय धम-सग्रह, चौखम्भा, पृ० 85
42 श्लोकवर्तिका, पृ० 84-95
43 चटर्जी, सतीशच द्र, 'दि प्रो०ब्ल्म्स ऑफ फिलॉसफी', पृ० 60
44 चटर्जी, एस० सी०, दि प्राब्लेम्स ऑफ नालिज' पृ० 60।
45 वही, पृ० 61।
46 चटर्जी, सतीशचन्द्र, 'दि न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज' पृ० 31।
47 श्लोकवर्तिका, 2/60।

48 देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० 57।
49 वूज़ले ए० डी०, ज्ञान-मीमासा परिचय, पृ० 125।
50 वही, पृ० 185-186।
51 रसेल, बी०, ह्यू मैन नालेज, इट्स स्कोप एण्ड लिमीट्स, पृ० 161।
52 वही, पृ० 170।
53 वही, प० 171।
54 नॉलेज एण्ड बिलीफ, पृ० 47।
55 वही, पृ० 51।
56 वही, पृ० 51।
57 एयर, ए० जे०, दि प्रॉब्लेम्स ऑफ नालेज, पृ० 31।
58 वही, प० 31।
59 वूज़ले, ए० डी०, ज्ञान मीमासा परिचय, पृ० 187।
60 वही, पृ० 189।
61 वही, पृ० 203।
62 वही, पृ० 187।
63 वही, पृ० 203।
64 वही, प० 203।
65 ग्रीफीत्स पी०, नॉलेज एण्ड बिलीफ, प० 62।
66 वही, पृ० 63।
67 मालकाम, नॉर्मन, नॉलेज एण्ड सर्टेंटी, पृ०
68 ि स्टेट ऑफ बिलीविंग
69 फेथ
70 ट्रस्ट या कॉन्फिडेंस
71 एक्सेप्टेंस
72 ओपीनीयन
73 हिक, जॉन, फेथ एण्ड नॉलेज, पृ० 208
74 हॉस्पस, जान, एन इण्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफिकल एनालिसिस, पृ० 382-385
75 प्रो० जी० ई० मूर न एकाधिक उदाहरणो के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि विश्वास और नि श्चतता म अतर है (मूर, जी० ई०, सम मेन प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, लदन, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, न्यूयाक, दि मकमिलन क०, 1962, पृ० 270-273
76 वही, पृ० 273
77 प्राइसर पॉल, बिट्विन बिलीफ एण्ड अनबिलीफ, क्लेरडर प्रेस, लदन, 1974, पृ० 246
78 वही, पृ० 273

० ०

19 वही, पृ० 118
20 वह, प० 361
21 कोजिटो अरगो सम
22 फालकेनवग आर०, ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न फिलॉसफी, मकमिलन, न्यूयाक, 1941, प० 23
23 वही, पृ० 228
24 स्मिथ, एम० के०, दि फिलॉसफी आफ डेविड ह्यूम, ऑक्सफोर्ड युनीवर्सीटी प्रस, लदन, 1941 पृ० 365।
25 फालकेनवग, आर०, हिस्ट्री ऑफ मॉडन फिलॉसफी, पृ० 223
26 थिल्ली, एफ० ए हिस्ट्री ऑफ माडन फिलॉसफी सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1928, प० 378
27 फालकेनबग, हिस्ट्री आफ माडन फिलासफी, पृ० 228
28 चटर्जी, पी० बी०, ऑउट लाइन्स आफ जेनरल फिलॉसफी पृ० 10 20
29 एयर, ए० जे०, दि प्रोब्लम्स ऑफ नालेज, पृ० 36
30 वही, पृ० 36
31 वही, प० 36-82
32 वस्तुत मनोविज्ञान सशय जैसी सज्ञा पर पथक रूप से विचार नही करता। वह इसे भ्रम, विभ्रम, प्रत्यक्षीकरण का मिला जुला रूप मानता है। किन्तु इस व्याख्या मे भी सशय की क्रिया सदैव किसी व्यक्ति या सशयकर्ता के मन म होती है।
33 समानधर्मोपपदेविशेषापेक्षो विमश सशय इति।
34 अनेकधर्मोपपत्तेरिति।—वही, पृ० 69।
35 विप्रतिपत्तेरिति।—वही, पृ० 70
36 उपलब्ध्यव्यवस्थात।—वही, पृ० 70
37 अनुपलब्ध्यव्यवस्थात।—वही, पृ० 70
38 न्यायभाष्य 1/1/23
39 न्यायवर्तिका तथा न्यायवर्तिका टीका 1/1/23
40 तत्वचिंतामणि, भाग 2, प० 210 211
41 पदार्थ धर्म सग्रह, चौखम्भा, पृ० 85
42 श्लोकवर्तिका, प० 84-95
43 चटर्जी, सतीशचन्द्र, 'दि प्रोब्लेम्स ऑफ फिलासफी', पृ० 60
44 चटर्जी, एस० सी०, दि प्रोब्लेम्स आफ नॉलेज' पृ० 60।
45 वही, पृ० 61।
46 चटर्जी, सतीशचन्द्र, 'दि न्याय थ्यारी ऑफ नॉलिज' पृ० 31।
47 श्लोकवर्तिका, 2/80।

48 देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० 57 ।
49 वूजले ए० डी०, ज्ञान मीमासा परिचय, पृ० 125 ।
50 वही, प० 185-186 ।
51 रसल, बी०, ह्यूमन नॉलेज, इटस स्कोप एण्ड लिमीट्स, पृ० 161 ।
52 वही, प० 170 ।
53 वही, प० 171 ।
54 नालेज एण्ड बिलीफ, पृ० 47 ।
55 वही, पृ० 51 ।
56 वही, प० 51 ।
57 एयर, ए० जे०, दि प्रॉब्लेम्स ऑफ नॉलेज, प० 31 ।
58 वही, पृ० 31 ।
59 वूजले, ए० डी०, ज्ञान मीमासा परिचय, पृ० 187 ।
60 वही, प० 189 ।
61 वही, प० 203 ।
62 वही, प० 187 ।
63 वही, पृ० 203 ।
64 वही, प० 203 ।
65 ग्रीफीत्स पी०, नालेज एण्ड बिलीफ, पृ० 62 ।
66 वही, पृ० 63 ।
67 मालकाम, नार्मन, नॉलेज एण्ड सर्टेंटी, पृ०
68 िं स्टेट ऑफ बिलीविंग
69 फेथ
70 ट्रस्ट या कॉ फडेंस
71 एक्सेप्टेंस
72 ओपीनीयन
73 हिक, जॉन फेथ एण्ड नॉलेज, पृ० 208
74 हास्पस, जान, एन इण्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफिकल एनालिसिस, पृ० 382-385
75 प्रो० जी० ई० मूर ने एकाधिक उदाहरणा के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि विश्वास और नि श्चतता में अतर है (मूर, जी० ई०, सम मेन प्रोब्लेम्स आफ फिलासफी, लदन, जॉज एलेन एण्ड अनविन, न्यूयाक, दि मैकमिलन क०, 1962, पृ० 270-273
76 वही, पृ० 273
77 प्राइसर पॉल, बिट्विन बिलीफ एण्ड अनबिलीफ, शेल्डर प्रेस, लदन, 1974, पृ० 246
78 वही, पृ० 273

० ०

5

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन में प्रमाण

ज्ञानमीमासा म प्रमाणो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य और भारतीय ज्ञानमीमासक दोनो ही अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रमाणा की चर्चा करते हैं। किंतु दोनो दर्शना म प्रमाणो की चर्चा मे भेद है। यह भेद भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमासा के मूलभूत प्रश्नो के उद्गम और लक्ष्य से सबधित है। पाश्चात्य ज्ञानमीमासा म, जसा कि पाश्चात्य ज्ञानमीमासा का इतिहास बताता है (प्लेटो, बेकन, देकार्त से काण्ट तक तथा उसके बाद का समसामयिक पाश्चात्य दर्शन) यद्यपि प्रारम्भिक काल म ज्ञानमीमासा की आवश्यकता तत्वमीमासा के लिए ही अनुभव की गई, समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववाद जिसका आरम्भ वियना सर्किल से हुआ है, तक आते-आते ज्ञानमीमासा स्वत साध्य हो गया।[1] अब ज्ञानमीमासीय प्रश्नो की उपादेयता मात्र ज्ञानमीमासा तक ही सीमित समझी जाने लगी। फलत ज्ञानमीमासीय प्रश्नो मे ज्ञान के उद्गम, ज्ञान के स्वरूप आदि से अधिक बल ज्ञान की सभावना के प्रश्न पर दिया जाने लगा।[2] यही कारण है—प्रमाण की चर्चा जब समसामयिक अनुभववादी करने लगता है तो उसकी विचारधारा मुख्यत दो बिन्दुओ पर केंद्रित हो जाती है

(क) अगर जानने के लिए प्रमाण आवश्यक है तो प्रमाण किसे कहेंगे ?

(ख) 'सत्य विश्वास + प्रमाण = जानना'—यह सूत्र अगर सही है तो यह सूत्र ज्ञानमीमासा को क्या सीमा निर्धारित कर पाता है ?

स्पष्टत पाश्चात्य ज्ञानमीमासा की प्रमाण सबधी समस्या इन दो विचार बिन्दुओ को दो पक्तियो म व्यक्त कर देने से तनिक भी स्पष्ट नही हो पाती। अत इसकी विशद विवेचना हम क्रमानुसार करने को बाध्य हैं। दूसरी ओर भारतीय दर्शन म ज्ञान का उद्गम और लक्ष्य दोनो ही तत्वमीमासा से सबधित हैं। अत यहाँ प्रमाण सबधी समस्या भी दूसरी प्रकार से उठती है। भारतीय दार्शनिक ज्ञान की असभावना का प्रश्न नही उठा सकता। क्योंकि अगर ज्ञान सदिग्ध होगा तो तत्वमीमासा भी असभव हो जाएगी। अत यहाँ प्रमाण सबधी प्रश्न दूसरे प्रकार से उठा है। भारतीय दार्श [illegible] दृष्टि से प्रभा को तीन खण्डो म बाँटता है—प्र[illegible] के एक सघटक तत्व के रूप म उसका प्रश्न ह[illegible] प्रकार का है ?

पाश्चात्य और भारतीय दशनो के प्रमाण सबधी प्रश्नो मे मूलभूत अतर होने के कारण दोनो की विवेचनाएँ दो हो जाती हैं। फलत हमे पृथक्-पृथक् भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिको की प्रमाण सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करना होगा और अपनी मूल समस्या के समाधान तक पहुँचना होगा।

(अ) भारतीय दर्शन मे प्रमाण

भारतीय दशन म प्रमाण सप्रत्यय को तीन अथ म व्यवहृत किया गया है (i) प्रमा के पर्यायवाची अथ म, (ii) प्रमा के साधन अथ मे, और (iii) प्रमा के कारण अथ म। इनम प्रमाण का प्रथम अथ महत्त्वपूण नही है। दूसरे अथ मे प्रमाण को प्रमा का साधन स्वीकार किया गया है। वस्तुत इसका क्या अथ है ? एक उदाहरण द्वारा इसे समझने की चेष्टा करें। पवत पर धुआँ है—अगर यह एक ज्ञान है तो यह ज्ञान हमे कसे होता है ? पर्वत पर धुआँ देखकर भी हो सकता है, और यह भी हो सकता है कि हम पवत पर धूम्र को देखें नही, किसी और से सुनकर इसका ज्ञान हम हो रहा है। अर्थात् ज्ञान का साधन कुछ न-कुछ होगा। यही प्रमा के साधन रूप म प्रमाण है। अब, समस्त ज्ञान प्रमा रूप नही है। प्रमा वैध ज्ञान है। अत ज्ञान की वैधता के लिए ज्ञान के साधन का वैध होना आवश्यक है। अत प्रमाण वैध ज्ञान का वैध साधन है।

वेदान्त परिभाषा प्रमाण को प्रमा का साधन कहता है।[3] किन्तु नैयायिक उद्योतकर न प्रमा के कारण को प्रमाण कहा है।[4] कारण और करण (साधन) मे अतर है। भारतीय दशन म तीन प्रकार के कारण बताये गय हैं उपादान, निमित और प्रयोजन। इनम से एक कारण निमित्त को करण कहा जाता है। इस प्रकार कारण का सप्रत्यय करण से अधिक व्यापक है। किन्तु उद्योतकर ने प्रमाण की इस परिभाषा को अतिव्याप्त कहा है उनके अनुसार ज्ञान के कारण प्रमाता और प्रमेय भी हैं। तब भी, उद्योतकर के अनुसार प्रमा का वास्तविक कारण प्रमाण ही है क्योकि प्रमाण की उपयोगिता ज्ञान सपादन के कारण होने मे ही है। प्रमाण की उपस्थिति के बिना प्रमा कभी सपादित नही हो सकता। यह प्रमा की उत्पत्ति के पूव प्रकट होने वाला आखिरी अवयव है। अत यह नियत, आसन्न और पूवकालिक है। न्यायवर्तिका[5] म प्रमाण को प्रमाता और प्रमेय की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, क्योकि जब तक प्रमाण न हो न तो प्रमाता को जान सकते हैं न प्रमेय को।

किन्तु प्रमाण अगर कारण रूप है तब भी इसकी उपयोगिता साधन की ही भाति होती है। स्वय उद्योतकर स्वीकार करते हैं कि प्रमा के कारण रूप प्रमाता और प्रमेय भी हैं अत मात्र प्रमाण को सम्पूण कारण कहना उचित नही, अधिकाधिक यह प्रमा की एक अनिवाय उपाधि है। और अगर प्रमाण को साधन रूप मानें तो भी प्रमा के होने की महत्ता से इसे वचित नही किया जा सकता। इस प्रकार प्रमाण को प्रमा का साधन या उपाधि कहने म कोई मतातर नही है, मात्र शब्दातर है।[6]

चूंकि प्रमाण की वधता पर बल दिया जा रहा है। अत प्रमाण सम्बन्धी दो महत्त्वपूण प्रश्न होते सामने आते हैं

(क) प्रमाण (प्रमा के वैध साधन) कौन कौन से हैं ?

(ख) इन्हें वैध कहने का आधार क्या है ?

भारतीय दार्शनिकों में प्रमाणों की संख्या के विषय पर मतभेद है। नास्तिक शिरोमणि चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करता है[7]। बौद्ध[8] और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[9] सांख्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों को प्रमाण स्वीकार किया है।[10] उदयन तथा अन्य नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द—ये चार प्रमाण स्वीकार करते हैं।[11] प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति—पांच प्रमाण बताते हैं।[12] भाट्ट मीमांसक[13] और वेदान्ती[14] प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि—छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग एतिह्य[15] और सम्भव[16] नामक दो अन्य प्रमाणों की चर्चा करते हैं। लेकिन अधिकांशतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का ही खण्डन और मण्डन भारतीय दार्शनिकों को प्रिय रहा है। अतः हम इन छह प्रमाणों की ही चर्चा करेंगे।

यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक इन्द्रियानुभव अथवा प्रत्यक्ष, तर्कबुद्धि या अनुमान, आप्त प्रमाण, अन्तःप्रज्ञा, इल्हाम या प्रकाशन और आस्था को प्रमाण रूप में स्वीकार करता है।[17] किंतु ध्यातव्य है कि पाश्चात्य जगत में मध्ययुग में ज्ञानमीमांसा उपेक्षित ही रही। प्राचीन यूनानी दर्शन में ज्ञानमीमांसा पर ध्यान दिया भी गया तो प्रमाण की चर्चा उतनी महत्त्वपूर्ण न हुई। अरस्तु के तर्कशास्त्र के कारण यह कहा जा सकता है कि उनके द्वारा अनुमान को प्रमाणों में जितनी प्राथमिकता मिली उतनी अन्य किसी प्रमाण को नहीं। और स्वतन्त्र रूप से तर्कशास्त्र की स्थापना आज भी इस तथ्य की पुष्टि करती है। आधुनिक दर्शन में ज्ञानमीमांसा को प्रमुखता मिली तो वहाँ समस्या का रूप दूसरा था। उस युग में बुद्धिवाद, अनुभववाद और समीक्षावाद प्रवाह रूप में आये किन्तु इन सभी वादों में अनुभव और बुद्धि को ज्ञान के उद्गम रूप में स्थापित करने की चेष्टा की गई जो एक भिन्न प्रकार की समस्या थी, जिसे हम क्रमानुसार देखेंगे।

समसामयिक दर्शन में अनुभववादियों ने ज्ञानमीमांसा को प्रधानता दी। किंतु वहां ज्ञान की अनिवार्यता उसकी सीमा इत्यादि का प्रश्न इतना अधिक महत्त्वपूर्ण रहा कि प्रमाण विचार लगभग उपेक्षित रहा। किंतु इन्द्रियानुभव अथवा प्रत्यक्ष पर इस काल में विशद चर्चा की गयी है। इस समस्या पर हम बाद में विचार करेंगे। अभी हम अपने विवेचन का प्रारम्भ भारतीय दर्शनोक्त छह प्रमाणों की पृथक् पृथक् व्याख्या से करेंगे।

1 प्रत्यक्ष

सभी भारतीय दार्शनिक निर्विवाद रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष का स्थान प्रमाणों में सर्वप्रथम है। इसे सर्वप्रथम स्वीकार किये जाने के दो कारण हैं। प्रथमतः यह सभी प्रमाणों का मूल है क्योंकि अन्य सभी प्रमाण इसी पर आधारित हैं। यह आगे अन्य प्रमाणों की विवेचना से स्पष्ट होगा। द्वितीयतः प्रत्यक्ष ज्ञान अन्य

सभी ज्ञानो की सत्यता की अतिम कसौटी है। अनुमानादि प्रमाणो की सत्यता मे जब हम सदेह होता है तो उसका अतिम निराकरण प्रत्यक्ष द्वारा ही सभव होता है।

(क) प्रत्यक्ष का स्वरूप प्रत्यक्ष के स्वरूप के सबध मे भारतीय दार्शनिको मे मतैक्य नही है। प्रत्यक्ष से सम्बधित समस्त विवेचनाओ म यद्यपि सूक्ष्म अतर है तथापि अध्ययन की सुविधा के लिये इन्हें निम्नलिखित तीन शीर्षों मे रखा जा सकता है

(i) बौद्ध मत,

(ii) इद्रिय और वस्तु के सनिकर्षज य ज्ञान, और

(iii) साक्षात ज्ञान।

(i) बौद्ध मत बौद्ध सामान्य रूप से यह स्वीकार करते हैं कि किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप की परिभाषा दे सकना असभव है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्व लाक्षणिक होती है।[18] प्रमाण रूप म प्रत्यक्ष स्वलक्षण के ज्ञान का साधन है तथा प्रमा रूप म प्रत्यक्ष स्वलक्षण का दोषरहित ज्ञान है।[19] प्रत्यक्ष (जन्य) ज्ञान की दो विशेषताओ का उल्लेख धर्मकीर्ति करते हैं।[20] प्रथमत यह कल्पना से रहित होता है तथा द्वितीयत यह प्रमा से रहित होता है। बौद्धो के अनुसार प्रत्यक्ष वस्तु और इद्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रथम क्षण का ज्ञान है। जब वस्तु के ज्ञान मे नामादि जुड जाते है तब वह ज्ञान स्वलक्षण का ज्ञान नही होता। नामादि का ज्ञान कल्पना का कार्य है। यह प्रत्यक्ष नही है।[21]

बौद्धो के प्रत्यक्ष सम्बधी इस मत पर अनेक आपत्तियाँ की गई हैं। इनम एक महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह है कि बौद्ध प्रत्यक्ष को प्रथम क्षण का ज्ञान कहते हैं जिसम वस्तु के नामादि का ज्ञान नही होता। किन्तु इस प्रकार के तथाकथित प्रथम क्षण के ज्ञान को जो नामादि से परे होता है, प्रमा अथवा ज्ञान की सज्ञा नही दी जा सकती है।

(ii) इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान यह मत भारतीय दर्शन मे अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय है। नैयायिक गौतम के अनुसार समस्त इन्द्रियो के विषय का सपर्कजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है।[22] वैशेषिक[23] और कुमारिल भट्ट[24] इसी मत के समर्थक हैं। गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष स उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि म तभी आ सकता है जब वह अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक हो।[25] वाचस्पति मिश्र के अनुसार न्याय-सूत्र की परिभाषा मे 'अव्यपदेश्य' शब्द का प्रयोग निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सूचक है। इसका अर्थ है, शब्द व्यवहार से अयोग्य। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को शब्दो मे अभिव्यक्त नही किया जा सकता। शेष दोनो लक्षण अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक सविकल्पक प्रत्यक्ष के बोधक है। अव्यभिचारी का अर्थ है—भ्रम स रहित तथा व्यवसायात्मक का अर्थ है निश्चित। इस परिभाषा के विरुद्ध मुख्यत निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं

गगेश के अनुसार प्रत्यक्ष की यह परिभाषा अतिव्याप्त है क्योंकि इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नम् के आधार पर अनुमान और स्मृति की भी व्याख्या की जा सकती है। अनुमान मे भी मन (अन्तरिन्द्रिय) तथा विषय का सन्निकर्ष होता है।

इस परिभाषा म 'इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसकी परिभाषा म नैयायिक कहते हैं कि इन्द्रिय वह है जिससे वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष को स्पष्ट करने के लिये वे इन्द्रिय तथा इन्द्रिय को स्पष्ट करने के लिये प्रत्यक्ष का सहारा लेते हैं जिसस प्रत्यक्ष की परिभाषा म चक्रक दोष होता है।

यह परिभाषा अव्याप्त भी है। सभी प्रकार के प्रत्यक्षो पर यह परिभाषा नहीं लागू होती। ईश्वर को इन्द्रिय नहीं है किन्तु उसे प्रत्यक्ष होता है।

(iii) साक्षात ज्ञान गगेश, अद्वैत वेदान्ती और प्राभाकर मीमांसकों ने प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान कहा है। गगेशोपाध्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ है विषय की साक्षात प्रतीती।[26] इस अर्थ मे विषय का बिना किसी माध्यम के अव्यवहित ज्ञान प्रत्यक्ष है।[27] वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान द्वारा ही पारिभाषित करते हैं। वेदान्त मत के अनुसार प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अनावश्यक है।[28] यद्यपि प्राभाकर भी प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के पदो म पारिभाषित करते हैं,[29] प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को अनिवार्य कहते हैं उनके अनुसार किसी भी विषय के प्रत्यक्षीकरण मे आत्मा, बोध और विषय का प्रत्यक्षीकरण होता है (त्रिपुटी प्रत्यक्ष)। बौद्ध भी प्रत्यक्ष को साक्षात्कारित्व के द्वारा पारिभाषित करते हैं,[30] किन्तु बौद्धो की परिभाषा से इन सभी परिभाषाओ का मुख्य भेद यह है कि बौद्धो के अनुसार प्रत्यक्ष मात्र स्वलक्षण का होता है जबकि अन्य दार्शनिक इस प्रकार के ज्ञान का प्रमा की सज्ञा नही देते।

प्रत्यक्ष को इस प्रकार परिभाषित करने म साक्षात पद की व्याख्या की कठिनाई सामने आती है। गगेश ने प्रत्यक्ष की जो परिभाषा की उसस साक्षात पद का एक अर्थ मिलता है। गगेश ने प्रत्यक्ष को ऐसा ज्ञान कहा जिसकी प्राप्ति म अन्य ज्ञान की आवश्यकता साधन रूप मे न हो। प्रत्यक्ष के इस लक्षण पर ध्यान देने से भ्रम हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष मे इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष के साधन के रूप म या माध्यम के रूप म उपस्थित होती हैं। इन्द्रियो के माध्यम से ही मन और वस्तु का सपर्क होता है। अत गगेश की परिभाषा पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह वैध नही है।

किन्तु गगेश या नव्य नैयायिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियो को उतना महत्त्व नही देते। वे स्पष्टत स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष म इन्द्रियाँ उपस्थित हो भी सकती हैं तथा नही भी। अगर प्रत्यक्ष म इन्द्रियाँ उपस्थित नहीं हैं तो इन्द्रियो का माध्यम रूप म काम करने का प्रश्न ही नही है। अगर इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष म उपस्थित हैं तो भी इन्द्रियाँ ज्ञान नही है। गगेश के अनुसार प्रत्यक्ष मे किसी ज्ञान को माध्यम रूप म उपस्थित नही होना चाहिए। अत प्रत्यक्ष म इन्द्रियो की उपस्थिति स भी प्रत्यक्ष की गगेश द्वारा दी गयी परिभाषा पर कोई आँच नही आती। वस्तुत प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणो म एक बहुत

बड़ा अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमा या प्रमाण पर आधारित नहीं है जबकि अन्य प्रमाण अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष पर आधारित है तथा अन्य प्रमाणों की पुष्टि का अंतिम आधार प्रत्यक्ष ही है जबकि प्रत्यक्ष पर संदेह होने पर उसका निराकरण अथवा पुष्टि भी प्रत्यक्ष के ही द्वारा होती है।

(ख) प्रत्यक्ष के प्रकार सामान्यतः भारतीय दर्शन में दो प्रकार के प्रत्यक्ष बताए गए हैं निर्विकल्पक तथा सविकल्पक।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष का भेद न तो न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम करते हैं और न वात्स्यायन भाष्य में ही इन पदों का प्रयोग देखने में आता है। किन्तु हम लोगों ने देखा है कि न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा में व्यवहृत 'अव्यपदेश्य' पद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का तथा व्यवसायात्मक पद सविकल्पक प्रत्यक्ष का लक्षण है।[31] नव्य न्याय के प्रणेता गंगेश ने भी निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की विस्तृत व्याख्या तत्वचिन्तामणि में की है। गंगेश के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष वह लौकिक प्रत्यक्ष है जिसमें किसी वस्तु की चेतना बिना किसी गुण धर्म के होती है। नव्य न्याय के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष का लक्षण अव्यपदेश्य अर्थात् शब्दातीत होना है।[32] यह प्रत्यक्ष बालक और मूक के प्रत्यक्ष के समान है जिन्हें वस्तु का प्रत्यक्ष तो सामान्य लोगों की ही भाँति होता है किन्तु वे नामादि के पदों में व्यक्त नहीं कर सकते[33] यह प्रत्यक्ष किसी वस्तु के अस्तित्व का नाम गुणादि से भिन्न प्रत्यक्ष है।[34]

नैयायिकों के समान सांख्य और भाट्टमीमांसकों ने भी इन्द्रिय और वस्तु के प्रथम क्षण के सन्निकर्ष को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा है।[35] वेदान्तियों तथा बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में नैयायिकों तथा प्राभाकरों से भिन्न मत दिया है। नैयायिकों और प्राभाकरों ने सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का भेद उनकी विषय वस्तु के आधार पर नहीं किया है। यह भेद वे पूर्वापर के आधार पर करते हैं।[36] केशव मिश्र के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें प्रथम क्षण का निर्विकल्प प्रत्यक्ष है तथा निर्विकल्प के अनन्तर जात्यादि योजना सहित वस्तु का ज्ञान सविकल्प प्रत्यक्ष है।[37] किन्तु वेदान्ती तथा बौद्ध निर्विकल्पक और सविकल्पक का निर्धारण उनकी विषय वस्तु के आधार पर करते हैं। परम्परागत वेदान्त मत के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान विशुद्ध सत्ता (सन्मात्र) का ज्ञान है तथा सविकल्पक किसी वस्तु के गुण का एवं अन्य वस्तुओं से उसकी पृथकता का ज्ञान है। किन्तु वेदान्त तत्वमीमांसा के अनुसार विविधता का ज्ञान प्रातिभासिक सत्ता का ज्ञान है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान होता है तथा सविकल्पक में प्रातिभासिक सत्ता का।[38] नव्य वेदान्ती व्यवहारिक दृष्टि से निर्विकल्पक और सविकल्पक का अन्तर करते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक संसर्गानवगाहि ज्ञान है। संसर्ग का अर्थ है विशेष्य-विशेषण संबंध। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेष्य विशेषण सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। 'सोऽयं देवदत्त'। इस वाक्य में देवदत्त को पुनः देखकर हम यह वही देवदत्त है, का ज्ञान होता है। इसके विधेय का उद्देश्य से विशेषण संबंध नहीं है। सविकल्पक प्रत्यक्ष को वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम् कहा गया है

अर्थात जिस ज्ञान म विशेष्य-विशेषण सबध हो, जसे, घटम जानामि (मैं घट को जानता हूँ)[39]।

इस सदभ म बौद्धो ने स्वलक्षण का सिद्धा त दिया है। अत प्रत्यक्ष से, जो वस्तु विशेष का ज्ञान होता है, नाम, सामा य आदि का ज्ञान नही होता है। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और बौद्ध मतानुसार यही एक मात्र प्रत्यक्ष का रूप है। धमकीति के अनुसार प्रत्यक्ष स्वलक्षण होता है।[40] स्वलक्षण का अथ है जिसमे अ य कुछ लेशमात्र भी न हो।[41] इस प्रकार वैधत प्रत्यक्ष वही है जिसम पूवानुभव की कोई भूमिका न हो। धमकीति न प्रमाणवर्तिका मे स्पष्ट लिखा है कि समस्त इ द्रिय प्रत्यक्ष विशेष के बारे मे होत हैं। विशेष अनिवचनीय है अर्थात शब्दा मे इसका वर्णन नही हो सकता है।[42]

भारतीय दशन के तीसरे प्रकार का मत वैयाकरणियों का है जिनके अनुसार सभी प्रकार के ज्ञान के लिये यह अनिवाय है कि उसे शब्दो म अभिव्यक्त होना चाहिये। जिसे हम शब्दो म अभिव्यक्त नही कर सकते, उसे ज्ञान की कोटि म नही रखा जा सकता। अत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष स्वीकार करना उचित नही है।[43]

बौद्धो का स्वलक्षण सम्ब धी मत पाश्चात्य इ द्रियदत्त के मत के समान है जिसम सवेदन और प्रत्यक्षीकरण मे भेद किया गया है। अनुभूति द्वारा अव्यवहित रूप म हम जिसका बोध होता है वह कोई वस्तु जैसे टेबुल आदि नही है, इ द्रियदत्त है। हम भौतिक वस्तुओ को नही जानते, अपने इ द्रिय सवेदना को जानते हैं और मानसिक अभ्यासवश इन्द्रियो सवेदनो से भौतिक वस्तुओ का अनुमान करते हैं। कि तु इस मत को स्वीकार करने पर कुछ आधारभूत कठिनाइया सामने आती हैं, जसे इ द्रिय दत्त क्या है? आदि।

यही समस्या बौद्धा के स्वलक्षणवाद के समक्ष भी आती है। बौद्धो का स्वलक्षण-वाद जिस क्षणिकवाद की अनिवाय परिणति है[44] वह क्षणिकवाद ही प्रथमत आरोपो स मुक्त नहा है। जब स्वत स्वलक्षण ही सिद्ध नही है तो इसके ज्ञान का साधन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी स्वीकाय सिद्ध नही होता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा ज्ञान है जो पूर्वानुभव स मुक्त हो? प्रारम्भिक मनोविज्ञान सवेदन और प्रत्यक्षी करण म भेद करता था। इस भेद के अनुसार सवेदन म वस्तु की चेतना होती है कि तु इसकी पहचान नही होती। कि तु सवेदना अथपूण हो तो इसे प्रत्यक्षीकरण कहेंगे। (सवेदन + अथ = प्रत्यक्षी—करण)। पर तु परवर्ती मनोवैज्ञानिको ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि अथहीन सवेदन या शुद्ध सवेदन सभव नही।[45] नव्य नैयायिको ने भी शुद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की वास्तविक सत्ता म सदेह प्रकट किया। उनके अनुसार चेतना म जो ज्ञान प्रस्तुत होता है वह सविकल्पक है तथा उससे हम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सत्ता का अनुमान करते हैं। यद्यपि डॉ० राधाकृष्णन ने नव्य नैयायिको के इस विचार को असतोषजनक कहा है,[46] तथापि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्व तार्किक दृष्टि स सिद्ध है कि तु कालक्रम की दृष्टि स नही।[47] कालक्रम की दृष्टि स मनन सांख्य तथा प्रभाकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष म भेद

करते हैं। इस प्रकार नैयायिकों, सांख्यों तथा प्राभाकरों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की धारणा को भले अस्वीकार कर दिया जाय वेदान्तियों की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की धारणा में कोई तार्किक दोष नहीं दीखता क्योंकि वे इसे विषयवस्तु के आधार पर परिभाषित करते हैं।

सविकल्पक प्रत्यक्ष नव्य न्याय, सांख्य एवं मीमांसा के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न प्रत्यक्ष है।[48] इसमें नाम, गुण आदि से युक्त वस्तु का बोध होता है, जैसे यह श्याम है, अथवा यह ब्राह्मण है।[49] यह विशेषण विशेष्य-विषयक ज्ञान है।[50] वेदान्त मत के अनुसार भी सविकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्यविशेषण विषयक ज्ञान है किन्तु नव्य न्याय और नव्य वेदान्त की सविकल्पक प्रत्यक्ष सम्बन्धी धारणा में भेद यह है कि नव्य वेदान्ती यह वही देवदत्त है को विशेष्य विशेषण ज्ञान नहीं कहता, इसे तादात्म्य बोध कहता है तथा इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखता है। वेदान्त परिभाषा के अनुसार विकल्पक को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।[51] विकल्पक का अर्थ है विशिष्टताबोध।[52] इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान विषय की विशिष्टता बताने वाला ज्ञान है यथा मैं घट को जानता हूं। यहां घट में रूप विशेषण से विशिष्ट घट ज्ञान को विषय किया जा रहा है।[53]

जैन दार्शनिकों के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रत्यक्ष है। जैन दार्शनिक आचार्य हेमचन्द्र ने जैन दर्शन की परम्परानुसार सविकल्पक को एकमात्र प्रत्यक्ष स्वीकारते हुए निर्विकल्पक को अनध्यवसाय रूप कहा।

लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष में इस प्रकार का भेद नव्य नैयायिक प्रस्तुत करते हैं। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—लौकिक एवं अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का वस्तु से संपर्क सामान्य प्रकार से होता है किन्तु अलौकिक में इन्द्रिय के समक्ष वस्तु प्रस्तुत नहीं होती। पूर्वापर के आधार पर लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा। इन्द्रिय से वस्तु के सम्पर्क के आधार पर लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—बाह्य एवं मानस। बाह्य प्रत्यक्ष पांच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष है। अतः यह पांच प्रकार का है—चाक्षुष, श्रोत, स्पार्शन रासन और घ्राणज। चाक्षुष प्रत्यक्ष का रूप, स्पार्शन प्रत्यक्ष का स्पर्श, श्रोत का शब्द, रासन का रस एवं घ्राणज प्रत्यक्ष का विषय गंध है। मानसिक अनुभूतियों (सुख, दुखादि) का प्रत्यक्ष अन्तः प्रत्यक्ष है।

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार के हैं—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण एवं योगज। सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष में किसी जाति अथवा सामान्य का ज्ञान होता है। न्याय दर्शन में सामान्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है। राम का प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है। राम मरणधर्मा है —यह सविकल्पक प्रत्यक्ष है। किन्तु मनुष्य मरणधर्मा है यह सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष है। ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष में एक इन्द्रिय द्वारा दूसरी इन्द्रिय की विषय वस्तु का प्रत्यक्ष होता है जैसे—बर्फ को देखकर इसके ठंडेपन का प्रत्यक्ष। योगज प्रत्यक्ष असाधारण व्यक्तियों का प्रत्यक्ष है। दूसरे के मन की बात जानना, त्रिकालदर्शन आदि इसके उदाहरण हैं।

(ग) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप मे क्या प्रत्यक्ष प्रमा का वैध साधन है ? भारतीय दर्शन म सभी दार्शनिक प्रत्यक्ष को प्रमा का वैध साधन मानते हैं। वेदान्ती जिन्होंने ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या का सूत्र दिया है वे भी व्यावहारिक सत्ता के ज्ञान के साधन रूप म प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। चार्वाकों ने प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया।

किन्तु पाश्चात्य दर्शन म देकार्त जैसे बुद्धिवादी भी हैं जो इन्द्रियानुभव को सदैव धोखा देने वाला एव इन्द्रियजन्य ज्ञान को संदिग्ध बताते हैं। उनके लिये ज्ञान का साधन इन्द्रियानुभव को मानना ही गलत है। देकार्त के अनुसार भ्रम और विभ्रम की स्थिति म इन्द्रियानुभव धोखा देता है तथा जो एक बार धोखा देता है, वह बार-बार धोखा नही देगा यह मानने का क्या आधार है ?

वस्तुत इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता है कि प्रत्यक्ष म भ्रम और विभ्रम की सभावना है। किन्तु देकार्त के आलोचकों का यह कथन भी सत्य है कि भ्रम और विभ्रम से मुक्ति भी प्रत्यक्ष के द्वारा ही मिलती है। अत प्रत्यक्ष सदैव धोखा नही देता।

किन्तु अगर इस कथन को सत्य स्वीकार करें कि प्रत्यक्ष सदैव धोखा नही देता तब भी कठिनाइयो का अन्त नही होता। ऐसी स्थिति मे कठिनाई यह निर्णय करने म है कि कौन सा प्रत्यक्ष धोखा देता है और कौन-सा नही। अर्थात् कौन सा प्रत्यक्ष वैध साधन है तथा कौन सा वैध साधन नही।

यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर पूर्ण स्पष्टता से दे सकना सभव नही फिर भी साधारण निम्नलिखित दो स्थितियो म हम किसी प्रत्यक्ष को वैध कहते हैं।

(i) यदि प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता म विश्वास हो, और

(ii) परवर्ती प्रत्यक्ष के उदाहरणो से इस विश्वास की सपुष्टि हो।

2 अनुमान

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनो मे अनुमान की जितनी चर्चा हुई है उतनी चर्चा सम्भवत किसी अन्य प्रमाण की नही हुई है। यह विषय कितना अधिक समस्यामूलक रहा है इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि पाश्चात्य जगत मे सुकरात, प्लेटो, अरस्तु से लेकर आधुनिक युग मे बेकन, लाइब्नित्स, मिल, ब्रडले, बोसाक्वेट, हेमिल्टन, जानसन आदि अनेक विद्वानो ने पृथक-पृथक स्वतन्त्र ग्रथ म इसकी चर्चा की है। इसकी चरम परिणति प्रतीकवादी तर्कशास्त्र अथवा गणितीय तर्कशास्त्र म हुई जिसमे जार्ज बुल, डी० मार्गन, पीअर्स, श्रोडर, फ्रेग, पिआनो ह्वाइटहेड, रसेल, विटगेंस्टाइन, स्टेबिंग, लविस आदि तार्किक प्रमुख हुए। यद्यपि इस आकारिक तर्कशास्त्र के रूप मे भारतीय तर्कशास्त्र विकसित नही हो सका फिर भी अनुमान की समस्या यहा भी महत्त्वपूर्ण है। चार्वाक न्याय, साख्य, मीमासा, बौद्ध, जैन सम्प्रदायो ने मुख्य रूप से अनुमान की चर्चा की। चार्वाक ने अनुमान के खण्डन पक्ष पर अत्यधिक बल दिया जिसका सकारात्मक

प्रभाव यह हुआ कि अनुमान प्रमाण के समथक अनुमान के नियमो के प्रतिपादन मे अधिक सजग रहे जिससे इन नियमो मे अधिक स्पष्टता और तीक्ष्णता आई। अनुमान का खण्डन करन वालो मे बौद्ध नागार्जुन, चावाक, जयराशि भट्ट, वेदान्ती श्रीहष के मत उल्लेखनीय हैं। अनुमान के समथको म सर्वाधिक महत्त्वपूण नयायिक हैं जिन्होने अनुमान को न्याय की सज्ञा दी तथा इतनी विशद् विवचना की कि उनके सम्प्रदाय का नाम ही न्याय हो गया।

स्पष्टत अनुमान की समस्या विशद् और जटिल है। यहा अनुमान के सभी पक्षो का विस्तत उल्लख सम्भव नही है। अत हम अनुमान के कतिपय महत्त्वपूण पक्षो का उल्लेख करते हुए प्रमा के स्वरूप निधारण से सम्बन्धित अनुमान की कुछ समस्याओ के विवचन का प्रयास करेंगे।

प्रत्यक्ष प्रकरण मे हम देख चुके ह कि ज्ञान की सीमा मात्र प्रत्यक्ष तक ही सीमित नही है।[54] पुन अगर प्रत्यक्ष प्रमाण है तो प्रत्यक्ष म अनुभूति की व्याख्या स्वत प्रत्यक्ष द्वारा नही की जा सकती। इसकी व्याख्या प्रत्यक्षेत्तर आधार पर करनी होती है। पुन सभी प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि मे नही आते। यथा प्रत्यक्ष भ्रमात्मक है या नही इसका निणय मात्र प्रत्यक्ष से नही हो पाता है। रज्जू म सप का प्रत्यक्ष भ्रमात्मक प्रत्यक्ष है जो प्रमाण नही है। क्षण क्ष म हम रज्जू म सप देखते है क्षण क्ष म रज्जू म रज्जू का प्रत्यक्ष होता है। तब हम कहत है कि क्ष क्षण का प्रत्यक्ष भ्रमात्मक है किन्तु यहा हम निश्चय ही क्ष क्षण क प्रत्यक्ष को भ्रमात्मक क्षण प्रत्यक्ष के ही आधार पर कहते हैं। क्षण क्ष का प्रत्यक्ष भ्रमात्मक है, क्ष और क्ष के प्रत्यक्ष भिन्न हैं, इन निणयो का ज्ञान प्रत्यक्ष के ही आधार पर होता है। तथापि यह निणय मात्र प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त नही है वरन् प्रत्यक्षेतर माध्यम स प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार प्रमाण शास्त्र के विकास के साथ एक अन्य प्रमाण अनुमान की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।[55]

(क) अनुमान का स्वरूप अनुमान पद का शाब्दिक अथ अनु+मान[56] इसी अथ का द्योतक है कि अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित किन्तु प्रत्यक्ष स परे का ज्ञान है।

न्याय दशन मे अनुमान को तत्पूवक[57] कहा गया है। वात्स्यायन ने तत का अथ स्पष्ट करत हुए लिखा है कि त तत् लिंग लिंगी दशन एव लिंगी दशन दोना का निरूपण करता है[58] लिंग-लिंगी अर्थात् व्याप्ति और लिंगी अथात् आधार वाक्य दोनो क आधार पर अनुमान किया जाता है।[59] इस प्रकार गगश क अनुसार अनुमान परोक्ष है जो साध्य और पक्ष के व्याप्ति ज्ञान पर आधारित है[60] सभी भारतीय दाशनिक अनुमान क साक्षात ज्ञान होन का निषेध करत हैं।[61] न्याय क अनुसार अनुमान व्याप्ति क माध्यम स दो वस्तुओ क बीच सम्ब ध की घोषणा है। चूकि यह निणय व्याप्ति क माध्यम स लिया जाता है, अत यह अपरोक्ष ज्ञान है।[62] बौद्ध दाशनिक धमकीर्ति के अनुसार अनुमान का विषय सामान्य है और प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण या विशेष। सामान्य का ज्ञान असाक्षात होता है। यह दो वस्तुओ के सम्ब ध का ज्ञान है जो तदुत्पत्ति और तादात्म्य क कारण होता है।[63]

भारतीय दशन म नयायिका का अनुमान के विवेचन म अभूतपूव योगदान है। फलत प्राय समस्त भारतीय दाशनिक सम्प्रदाया ने अनुमान की व्याख्या क लिये न्याय पदावली को स्वीकार किया। परन्तु इस स्वीकृति के अतिरिक्त विभिन्न सम्प्रदायो की अनुमान-सम्बन्धी अवधारणा मे सूक्ष्म अन्तर है।[64] सभी भारतीय दाशनिक अनुमान म व्याप्ति का महत्वपूण स्थान स्वीकार करते हैं। किन्तु बौद्ध, वेदान्त और न्याय की व्याप्ति सम्बन्धी अवधारणा मे भेद है। पवत पर अग्नि है, यह अनुमान पवत पर धूम्र देखकर लगाया जाता है। क्योकि पवत और अग्नि का सम्बन्ध इस व्याप्ति पर आधारित है कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ आग है। इस प्रकार व्याप्ति का सम्बन्ध हेतु (धुआ) और साध्य (आग) का सबध है। अत वेदान्त दर्शन म हेतु और साध्य के सावभौम सम्बन्ध को व्याप्ति कहा गया है।[65] इस व्याप्ति का ज्ञान व्यभिचार के अदशन तथा सहचार के दशन से होता है। न्याय भी व्याप्ति के सम्बन्ध म इसी का समथन करता है।[66] बौद्ध भी व्याप्ति को हेतु और साध्य का सम्बन्ध कहता है।[67] जिसका दशन तदुत्पति और तादात्म्य के कारण होता है।

(ख) भारतीय न्याय के आकार यहा हम वेदान्त, न्याय और बौद्ध न्याय शास्त्र की चर्चा करेंगे। इन तीन प्रकार के ही न्याय की चर्चा का औचित्य यह है कि भारतीय न्यायशास्त्र में ये तीन न्याय महत्वपूण हैं

(1) वेदान्त न्याय का आकार वेदान्त न्याय को दो भागा म बाँटता है

स्वार्थानुमान —यह अनुमान स्वय के लिए होता है और व्यक्ति स्वय ही तकके द्वारा निणय कर लेता है।

परार्थानुमान—यह अनुमान दूसरे के लिय होता है और दूसरे को सतुष्ट करने के लिये व्यक्ति इसके तर्कों का प्रयोग करता है।

वेदान्त परार्थानुमान के तीन अवयव बताता है[68]—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण उपनय और निगमन। तीन अवयवो के आधार पर अनुमान दो प्रकार से किया जाता है

(क) प्रतिज्ञा—पवत पर अग्नि है।
हेतु—क्योकि वहाँ धूम्र है।
उदाहरण—जहा जहाँ धुआ है, वहाँ वहा अग्नि है। जसे, पाकशाला म धुआँ है और अग्नि है।

(ख) उदाहरण—जहाँ जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि है। जसे, पाकशाला धुआँ है और अग्नि है।
उपनय—पवत पर धुआँ है।
निगमन—अत पवत पर अग्नि है।

(ii) न्याय दशन मे न्याय का आकार वेदान्त जहाँ परार्थानुमान के तीन अवयव कहता है वहाँ नयायिक स्वार्थानुमान के तीन तथा परार्थानुमान क पाच अवयव कहते हैं। नयायिको के अनुसार स्वार्थानुमान म वाक्यो को क्रम-

बद्ध रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता नही है पर तु परार्थानुमान के पाँच अवयवो का क्रम इस प्रकार है

प्रतिज्ञा—पवत पर आग है ।
हेतु—क्योकि पवत पर धुआं है ।
दृष्टा त—जहा-जहां धुआं है, वहां वहां आग है । जसे, पाकशाला मे ।
उपनय—इस पवत पर धुआं है ।
निगमन—अत इस पवत पर आग है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि परार्थानुमान के क्रमश तीन और पाँच अवयव कहने के बाद भी वेदा ती और नयायिक याय म कोई मौलिक भेद नही है । क्योकि परार्थानुमान के जो पाच चरण नैयायिको ने बताए है उसे दो प्रकार क अनुमानो के क्रम म वेदा ती भी स्वीकार कर लेते है ।

(iii) बौद्ध याय का आकार बौद्ध तार्किक भी समस्त अनुमान को दो भागो म बाटता है । स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान ।[69] प्रत्येक अनुमान के तीन पद होते हैं । साध्य, पक्ष तथा हेतु अथवा लक्षण ।[70] बौद्ध तार्किको ने इस मत को अस्वीकार किया है कि अनुमान मे पाच चरण हैं । उनके अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन मे प्रतिज्ञा निगमन का तथा हेतु उपनय का पुनकथन है । एक ही अनुमान को आरोह तथा अवरोह की दृष्टि से देखने पर ये पाच चरण आते है वरना यथायत अनुमान के तीन ही चरण हैं—उदाहरण, उपनय और निगमन । दिग्नाग पुन इनका सक्षेपीकरण करता है और केवल दो पदो को स्वीकार करता है—उदाहरण-सहित अ वय या व्याप्ति तथा उपनय सहित निगमन ।[71]

(ग) भारतीय तथा पाश्चात्य याय का आकार पाश्चात्य न्याय शास्त्र स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का भेद नही प्रस्तुत करता है । वहा अनुमान के तीन चरण बताए गये है—वहत् वाक्य, लघुवाक्य और निष्कष ।

जहाँ जहा धुआ है वहाँ वहाँ आग है—वहत वाक्य
पवत पर धुआं है—लघु वाक्य
पवत पर आग है—निष्कष ।

वेदा त न्याय से इसकी तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उदाहरण की जगह वहतवाक्य, उपनय की जगह लघुवाक्य तथा निगमन की जगह निष्कष रखा जा सकता है । इसी भाँति पाश्चात्य तार्किक जिसे वहतपद (अग्नि) कहता है उसे वेदा ती साध्य तथा पाश्चात्य लघुपद (पवत) को पक्ष तथा मध्य पद (धुआं) को हेतु कहता है ।

इसी भाति याय दशन जिसे दृष्टा त की सज्ञा देता है वह पाश्चात्य न्याय का वहत वाक्य है, हेतु अथवा उपनय का लघु वाक्य है । निगमन अथवा प्रतिज्ञा पाश्चात्य याय का निष्कष है । कि तु याय दशन के याय मे तथा पाश्चात्य याय म यह भेद बतलाया जा सकता है कि याय दशन का याय पचअवयवी है जबकि पाश्चात्य याय

तीन अवयवी। किन्तु यह भेद मात्र इसलिए है कि न्याय दर्शन का न्याय निष्कर्ष को पहले स्वीकार कर पुन उसे प्रमाणित करता है। किंतु पाश्चात्य न्याय निष्कर्ष से प्रथमत अनभिज्ञ रहता है तदुपरान्त लघुवाक्य तथा वृहत्वाक्य मे मध्यपद की तुलना से निष्कर्ष प्राप्त करता है।

बौद्ध न्याय और पाश्चात्य न्याय की समानान्तरता का विशद् और सर्वांगीण विवेचन शेरवात्सकी ने किया है। शेरवात्सकी का इन दो न्यायो की परस्पर तुलना का प्रयास महत्त्वपूर्ण है। यहा शेरवात्सकी के मत का एक उदाहरण हम प्रस्तुत करेंगे, जिससे पाश्चात्य और बौद्ध न्याय की समानता पर प्रकाश पडता है

"बौद्ध न्याय जिसका स्वार्थानुमान के रूप म विवेचन करता है उसका योरोपीय तर्कशास्त्र अशत निश्चय और अशत परार्थानुमान के रूप म विवेचन करता है। परार्थानुमान आगमनात्मक निगमनात्मक तर्क का एक पूर्ण अभिव्यक्त रूप है। यह ज्ञान की एक प्रक्रिया कदापि नही है। दूसरी ओर उस अधिकाश सामग्री का जितना योरोप मे तत्कालिक अपूर्ण अथवा आभासी अनुमान के रूप म विवेचन किया गया है, बौद्धो ने स्वार्थानुमान के रूप मे विवेचन किया है।[72]

(घ) भारतीय दर्शन मे व्याप्ति ज्ञान व्याप्ति ज्ञान सबधी तीन प्रकार के मत भारतीय दर्शन मे पाए जाते हैं—बौद्ध, न्याय और वेदान्त मत।

(i) बौद्ध मत बौद्धो के अनुसार व्याप्ति ज्ञान तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा होता है।[73] तदुत्पत्ति एक प्रकार का कार्य कारण नियम है तथा तादात्म्य दो वस्तुओ के बीच एक सार और सामान्य तत्त्व की उपस्थिति है।[74] तदुत्पत्ति का ज्ञान बौद्धो के अनुसार पचकारणि से होता है। पच-कारणि के पाँच चरण हैं[75]

1 उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अदर्शन।
2 कारण का दर्शन।
3 कारण के अनन्तर तत्काल कार्य दर्शन।
4 तदुपरान्त कारण लोप।
5 इसी क्रम म कार्य का लोप।

बौद्धो की पचकारणि मिल की कारण सम्बन्धी इस अवधारणा से मिलती है कि कारण कार्य की नियतपूर्वकालिक आसन्न अनौपाधिक घटना है।

(ii) न्याय मत किन्तु नैयायिक बौद्धो के इस मत का खण्डन करते हैं कि व्याप्ति ज्ञान तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा होता है[76] नैयायिको के अनु-सार व्याप्ति के अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिन्हे न तदुत्पत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है और न तादात्म्य के अन्तर्गत।[77] रात के बाद दिन होता है इस व्याप्ति म न तो तदुत्पत्ति है और न तादात्म्य।

परम्परागत न्याय के अनुसार व्याप्ति ग्रहण म तीन पद हैं

1 अन्वय—दो वस्तुओ की सदैव साथ साथ उपस्थिति का ज्ञान जैसे,

जहा जहा धुआ है, वहाँ वहाँ अग्नि है।

2 व्यतिरेक—दो वस्तुओ का सदैव इस प्रकार का ज्ञान कि एक की अनुपस्थिति मे दूसरा अनुपस्थित हो। जसे, जहाँ जहाँ अग्नि नही है वहा वहा धूम्र नही है।

3 व्यभिचार अदशन—विपरीत उदाहरण का अभाव। जैसे धूम्र की उपस्थिति म अग्नि की अनुपस्थिति के ज्ञान का अभाव।

(iii) वेदान्त मत वेदान्ती नैयायिको के इस मत का समथन करता है कि व्याप्ति ज्ञान तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा नही होता। किन्तु वेदान्त के अनुसार व्याप्ति ज्ञान के लिए सहचार दशन और व्यभिचार अदशन की उपाधि बतलाई गई है।[78] दो वस्तुओ की परस्पर साथ साथ उपस्थिति का ज्ञान सहचार दशन है। तथा सहचार दशन का विरोधी उदाहरण न पाया जाना व्यभिचार अदशन है।

वेदान्तियो का सहचार दशन नयायिको के अन्वय के समान प्रतीत होता है। किन्तु अन्वय विधि और सहचार दशन म भेद है। सहचार दशन द्वारा व्याप्ति की स्थापना के लिए सहचार का एक ही उदाहरण काफी है। किन्तु नयायिको के अनुसार अन्वय द्वारा व्याप्ति के लिए एकाधिक उदाहरणो की आवश्यकता है।

(ड) चार्वाको द्वारा व्याप्ति पर आक्षेप तथा पाश्चात्य तकशास्त्र मे आगमन की समस्या।—चार्वाक अपनी ज्ञानमीमासा म मात्र प्रत्यक्ष का समथक और अनुमान का घोर विरोधी है व्याप्ति ज्ञान की प्रत्येक विधि पर आक्षेप करता है। मात्र तदुत्पत्ति और तादात्म्य के द्वारा ज्ञान नही होता है इस पक्ष का हम देख चुके हैं। चार्वाक कहता है कि अन्वय व्यतिरेक सहचार दशन व्यभिचार अदशन—इनमे से किसी के भी द्वारा व्याप्ति ज्ञान सम्भव नही है। चार्वाको के अनुसार तथाकथित व्याप्ति मध्यपद और वृहतपद के बीच का सम्बन्ध है। यथा जहा जहाँ धुआ है वहा वहा आग है, इस व्याप्ति का आधार अन्वय या व्यतिरेक या सहचार दशन या व्यभिचार अदशन, जो भी हो निरीक्षण सदव एक या कुछ सीमित उदाहरणो का ही हो पाता है। अब कुछ से सब पर जाने का आधार क्या है ? क्या यह छलाग अवध नही है ? चार्वाक इसे अवैध कहता है और व्याप्ति का खण्डन करता है। चार्वाक मत के अनुसार वस्तुत अनुमान ही अवैध प्रमाण है अथवा प्रमा का साधन नही है।[79]

यद्यपि चार्वाक के इस मत का घोर विरोध हुआ है कि अनुमान प्रमाण नही है और चार्वाको के अनुमान प्रमाण के विरोध म दिये गये तक का सर्वाधिक सबल उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि व्याप्ति के खण्डन के लिए जो आधार चार्वाक प्रस्तुत करते हैं वह आधार स्वत एक व्याप्ति है।[80] तथापि व्याप्ति के आधार पर चार्वाक के प्रहार का परिष्कृत और तार्किक रूप पाश्चात्य जगत म आगमन की समस्या के रूप म पाया जाता है।

आगमन की समस्या को ह्यूम ने अपनी पुस्तक ए ट्रीटाइज आफ ह्यूमन नेचर मे उठाया है।[41] वहाँ आगमन के आधार प्रकृति समरूपता नियम और काय कारण नियम पर सदेहवादी प्रहार किया गया कि इस कथन का क्या औचित्य है कि अनिवायत कुछ प्राकृतिक घटनाओ की पुनरावत्ति होती है तथा कार्य और कारण म अनिवाय सम्बन्ध है ? और अगर काय कारण मे नियम तथा प्रकृति समरूपता नियम आनुभविक संभावनाएँ मात्र हैं तो आगमन से हम जो सामान्य वाक्य प्राप्त करते हैं तथा निगमन का जो बृहत वाक्य होता है—उसकी अनिवायता की क्या गारटी है ?[82]

इस समस्या के अनेक समाधान प्रस्तुत किये गये हैं जिनका खण्डन भी कालान्तर मे किया गया।[83] लेकिन वतमान समय मे आगमन की समस्या का सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय समाधान यह कहकर किया जाता है कि यह समस्या इस प्रकार उठाई गई है कि इसका समाधान सम्भव नही। इसका समाधान निगमन के आधार पर नही दिया जा सकता क्योकि निगमन का आधार वाक्य भी आगमन ही होता है और आगमन के आधार पर यह समस्या इसलिए नही सुलझाई जा सकती कि आगमन के औचित्य को हम अभी ढूढ रहे हैं।

वस्तुत आगमन का औचित्य इतना ही है कि वह एक व्यवहारिक सभावना है और व्यवहार म आगमन के बिना सफल नही हुआ जा सकता है।[84] आगमन म निगमन के समान तार्किक निश्चयात्मकता सभव नही है और इसम निगमन के समान तार्किक अनिवार्यता की माग उसी प्रकार है जिस प्रकार कि बिल्लियो पर कुत्ते नही होने का आक्षेप लगाया जाय।[85]

चार्वाको के आक्षेप के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि व्याप्ति को प्राप्त करने के लिए हम भूत, भविष्य और वतमान के सभी उदाहरणो का निरीक्षण नही कर सकते हैं, वरन कुछ से सब पर जाते हैं किन्तु इस छलाग को अवैध कहना तार्किक दृष्टि से भले उचित हो व्यवहारिक दृष्टि स इसके महत्व को नकारा नही जा सकता है। इसी भाति यह कहना भी अनुचित है कि अनुमान अथवा न्याय अवैध प्रमाण है। व्यवहारिक जीवन म हम बहुधा अनुमान का सहारा लेते है और सफलता प्राप्त करते हैं। पुन व्यभिचार दशन से व्याप्ति का खण्डन भी होता है। अतएव व्यभिचार अदशन तक व्याप्ति को स्वीकार करना एक आनुभविक आवश्यकता है। प्रमाण रूप म अनुमान औचित्य यही है।

3 शब्द

साधारणत शब्द का अथ एक साथक ध्वनि है किन्तु प्रमाण रूप म शब्द का अथ आप्त वचन या प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा कही गयी या लिखी गई[86] एसी बातें जो अन्य प्रमाणो द्वारा बाधित न हो।[87] चावाक, बौद्ध और वैशेषिक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक शब्द प्रमाण म विश्वास करत हैं। आस्तिक सप्रदाय के दार्शनिक वेदाश्रित हैं अत वैशेषिक के अतिरिक्त सभी शब्द को प्रमाण रूप स्वीकार करते हैं।[88] इस प्रकार शब्द

प्रमाण के रूप मे बहुधा वेदों को प्रतिष्ठित किया जाता है।

(क) शब्द प्रमाण का स्वरूप शब्द प्रमाण के सम्बन्ध मे विभिन्न सम्प्रदायो मे मतभेद है। गौतम के अनुसार आप्त पुरुष के वचन शब्द हैं।[89] नव्य नैयायिक भी इसका समथन करते हैं।[90] मीमासक नैयायिको के इस मत को स्वीकार नही करते है। उनके अनुसार शब्द सदैव पुरुष के वचन नही होते। वेद शब्द जो अपौरुषेय है। नैयायिक भी वेदो को शब्द स्वीकार करते है। किन्तु उनक अनुसार वेद ईश्वर के कथन हैं। ईश्वर पुरुष विशेष है।[91] किन्तु मीमासक निरीश्वरवादी हैं। अत उनके अनुसार वेद अपौरुषेय है।

मीमासको के अनुसार यह प्रमाण आप्तवाक्यो से उत्पन्न ज्ञान है। आप्त वह है जो पदाथ को उसी रूप म देखे जसा कि पदाथ वस्तुत है। मीमासको के अनुसार शब्द प्रमाण के दो भेद हैं [92] पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय शब्द आप्त पुरुष के वचन है तथा अपौरुषेय शब्द वेद हैं। पुन अपौरुषेय शब्द या वेद वाक्य भी दो प्रकार के है सिद्धाथक वाक्य और विधायक वाक्य। सिद्धाथक वाक्य वे है जो किसी पदाथ के अस्तित्व को प्रकट करें और विधायक वाक्य वे हैं जो किसी अनुष्ठान की प्रेरणा दें।

वेदान्ती शब्द प्रमाण को आगमन प्रमाण कहते है।[93] वेदान्ती आगम की परिभाषा देते हैं जिस वाक्य के तात्पय का विषय होने वाला ससग अन्य प्रमाणो स बाधित नही होते वह शब्द प्रमाण है।[94]

वेदान्त के अनुसार शब्द के दो भेद हैं लौकिक और वदिक।[95] लौकिक और वैदिक वाक्यो म एक महत्त्वपूण भेद यह है कि लौकिक वाक्य जिस अथ को बताते है वह अपूव नही होता, अर्थात् प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो से ज्ञात रहता है।[96] किन्तु वैदिक वाक्य जिस अथ को बताते हैं वह अपूव होता है अर्थात् अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नही होता है।[97] इसके विपरीत पाथसारथी शब्द को ऐसा वाक्य कहते है जो अन्य किसी साधन से न जाना जा सके।[98]

किन्तु वेदान्त का यह मत उचित प्रतीत होता है कि लौकिक वाक्य अपूव नही होते हैं। आनुभाविक जगत के सभी कथन प्रथमत अनुभव द्वारा ही जाने जाते है। पाश्चात्य दाशनिक भी यह स्वीकार करते हैं। पुन वेदान्तियो की यह धारणा कि वेद वाक्य (तत्वमीमासा या परमाथ से सम्बन्धित वाक्य) अन्य किसी साधन से नही जाने जा सकते—पाश्चात्य मत के समान है कि तत्वमीमासा विवेचन का विषय नही है।

चार्वाक प्रमाण रूप मे शब्द का खण्डन करते हैं। किन्तु वैशेषिक और बौद्ध आप्त वाक्य को प्रमाण स्वीकार करत हुए भी इस प्रमाण की स्वतन्त्र सत्ता नही स्वीकार करते। उनके अनुसार शब्द एक प्रकार का अनुमान है। वशेषिक जो नैयायिको का समान तन्त्र माना जाता है, निम्नलिखित तक द्वारा शब्द प्रमाण के अनुमान से पृथक अस्तित्व का निषेध करता है

शब्द का अनुमान मे अन्तर्भाव समान विधि के कारण किया है। जैसे, अनु-

मान म 1—व्याप्तिग्रह, 2—लिंग ज्ञान, 3—व्याप्ति स्मृति, 4—अनुमीति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण म 1—सकतग्रह, 2—वाक्य श्रवण, 3—पदार्थ स्मृति 4—शब्द-बोध होता है। इसलिए अनुमान तथा शब्द की विधि समान होन स वशेषिक दर्शन न शब्द का अनुमान म अन्तर्भाव मान लिया है।[99]

किन्तु नैयायिक वैशेषिका के इस कथन का विरोध करत हैं कि शब्द एक प्रकार का अनुमान है। नैयायिका क अनुसार शब्द प्रमाण म व्याप्ति का अभाव है। अत यह अनुमान नहीं है।[100]

(ग) स्वतत्र प्रमाण के रूप मे शब्द किसी प्रमाण को स्वतन्त्र स्वीकार करने का आधार यह नहीं होता कि उस प्रमाण स प्राप्त ज्ञान अन्य प्रमाणो स प्राप्त नही हो सकता। वस्तुत किसी प्रमाण को स्वतत्र स्वीकार करने का अर्थ है कि उसस प्राप्त ज्ञान विश्वसनीय होता है। शब्द प्रमाण इस बात को पूरा करता है जो निम्नलिखित विवेचन स स्पष्ट होती है।

वेदान्ती दो प्रकार क शब्द बताते हैं लौकिक और वदिक। शब्दो को यह भेद आनुभविक वाक्य और तत्वमीमासीय वाक्यो का भेद प्रतीत होता है और इस स्वीकृति के साथ ही कि लौकिक शब्द अनुभविक वाक्य है तथा वदिक शब्द तत्वमीमासीय, हम यह स्वीकार करना पडता है कि आनुभविक वाक्यो को अनुभव स जाना जा सकता है अर्थात लौकिक शब्द प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो स जाने जाते है। इस मत स न वदान्तियो का विरोध है और न पाश्चात्य आनुभविक ज्ञानमीमासको का। किन्तु इसक साथ ही हम यह स्वीकार करना पडता है कि वैदिक शब्द या तत्वमीमासीय वाक्य किसी भी अन्य साधन यथा प्रत्यक्षादि स नही जाने जा सकते। इस मत से भी न वेदान्तियो का विरोध है और न पाश्चात्य अनुभववादी ज्ञानमीमासको का।

किन्तु यह ठीक है कि वदिक शब्द को प्रमाण स्वीकार करने म आपत्ति हो सकती है किन्तु लौकिक शब्द को प्रमाण स्वीकार करना युक्ति सगत लगता है। आकाशवाणी से प्रसारित इस सूचना को कि पटना मे भूकम्प हुआ है इस बात का प्रमाण स्वीकार किया जाता है कि पटना म भूकम्प हुआ है। किन्तु यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि भूकम्प का ज्ञान हम श्रवण प्रत्यक्ष के आधार पर हुआ है और इस प्रकार शब्द प्रमाण स्वीकार करना सही नही है। वस्तुत पटना म भूकम्प का ज्ञान हमे दो प्रकार से हो सकता है। भूकम्प के धक्क का अनुभव कर, और 2—आकाशवाणी पर भूकम्प की सूचना पाकर। इसम पहला ज्ञान प्रत्यक्ष से प्राप्त है। और दूसरा ज्ञान शब्द से प्राप्त है। बहुधा हम विज्ञान म कुछ प्रतिज्ञप्तियो को आधार वाक्य बनाकर अपनी विवेचना मे आगे बढ़ते है और ये प्रतिज्ञप्तियाँ हमारी मान्यता मात्र नही होती। बल्कि इनकी प्रामाणिकता को हम किसी विद्वान व्यक्ति के कथन क आधार पर स्वीकार कर लेते है। दैनिक जीवन म हम न्यूटन क इस कथन को स्वीकार करके अपने क्रिया कलापो का सचालन करते हैं कि पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। यह स्वीकृति अधविश्वास नहीं

है। हम दावा करते हैं कि हम इस कथन को जानते हैं। इस कथन को जानने का हमारा आधार यह कदापि नहीं होता कि जब हम अपने हाथ मे पकड़ा ग्लास छोड देते हैं तो ग्लास नीचे गिर जाता है या पेड से गिरा फल जमीन पर ही आता है। यद्यपि इन उदाहरणो को हम गुरुत्वाकर्षण के नियम के पक्ष मे स्वीकार करते है किन्तु हम जिस आधार पर गुरुत्वाकर्षण का नियम जानते हैं और यह जानते है कि पेड से फल का जमीन पर गिरना गुरुत्वाकर्षण का प्रमाण है—वह आधार भौतिकशास्त्र या सामान्य ज्ञान की पुस्तको का यह कथन है कि पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। इसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं और यह अन्य प्रमाणो से भिन्न है।

तब यहाँ यह कहा जा सकता है कि हम भले इसे शब्द प्रमाण कह लें किन्तु न्यूटन ने तो इसे प्रत्यक्ष से ही जाना। अत यह प्रतिज्ञप्ति मूलत शब्द से नही प्रत्यक्ष प्रमाण स जानी गई है। अत जसा कि चार्वाक कहते हैं शब्द प्रमाण मूलत प्रत्यक्ष प्रमाण है।

किन्तु यह आपत्ति दो प्रश्नो को उलझा देने के कारण की गई है—

1 मैं कसे जानता हूँ कि पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण शक्ति है, और

2 न्यूटन कैसे जानता है कि पृथ्वी म गुरुत्वाकर्षण शक्ति है।

1 का जानने का जो साधन मेरे पास है वह न्यूटन का कथन है कि पृथ्वी मे गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। यह शब्द प्रमाण है। तथा 2 को जानने का जो साधन न्यूटन का है वह उसका सब को पृथ्वी पर गिरते देखना है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहा यह सही है कि 1 कथन को हम 2 कथन के आधार पर जानते हैं। और 2 को प्रत्यक्ष के आधार पर जाना जाता है। अत 1 का ज्ञान भी अन्तत प्रत्यक्ष पर आधारित है किन्तु इस आधार पर शब्द प्रमाण की महत्ता को नकारा नही जा सकता। कथन 1 प्रत्यक्ष पर परोक्ष रूप से आधारित होते हुए भी शब्द प्रमाण से ज्ञात है।

वस्तुत मात्र शब्द ही नही, अनुमानादि अन्य प्रमाण भी अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष पर आधारित हैं। किन्तु इससे इन प्रमाणो की महत्ता कम नही होती। क्योकि जसा कि हम ऊपर देख आए हैं यह सत्य है कि ये प्रमाण प्रत्यक्ष से संयुक्त होते हुए भी प्रत्यक्ष से भिन्न है। जसा कि रेडियो पर प्रसारित की गई यह सूचना कि शिमला मे आज बर्फ गिरी, किसी न किसी संवाददाता के प्रत्यक्ष पर आधारित है। किन्तु श्रोता को इस तथ्य का प्रत्यक्ष नही होता तब भी वह इसे प्रमा रूप स्वीकार कर लेता है।

4 उपमान

उपमान को मीमासा और वेदान्त असाक्षात ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन मानते हैं।[101] नैयायिको ने भी इस प्रमा का स्वतन्त्र साधन कहा है।[102] शेष अन्य भारतीय दार्शनिक उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नही स्वीकार करते। उपमान के सबध म मीमासा और वेदान्तियो की धारणा तथा नैयायिको की धारणा म भेद है। इस प्रकार उपमान का स्वरूप दो प्रकार है जिसे हम अलग अलग स्पष्ट करेंगे।

5 अर्थापत्ति

भाटटमीमासा[109] और वेदा त अर्थापत्ति को प्रमा[110] का स्वत त्र साधन कहते हैं। किन्तु अ य सम्प्रदाय इसका खण्डन करते हैं।

(क) अर्थापत्ति का स्वरूप—अर्थापत्ति उस अथ के ज्ञान को कहते है जिस अर्थ के बिना दष्ट या श्रुत विषय की उपपत्ति न हो।[111] उदाहरणाथ, यदि हम देखते अथवा सुनते हैं कि देवदत्त दिन म कुछ भी नही खाता फिर भी खूब मोटा है तो दिन मे कुछ नही खाने और मोटा होने म विरोधाभास दिखता है। इन दो विरोधी बातो की उपपत्ति तभी हो सकती है जब कि हम यह कल्पना कर लें कि देवदत्त रात्रि म भोजन करता है। इस कल्पना स दोनो बातो की उपपत्ति होती है कि दवदत्त दिन मे भोजन नही करता है तथा देवदत्त मोटा है। अत दवदत्त रात्रि म भाजन करता है, यह कल्पना अर्थापत्ति है। यह कल्पना न दृष्ट है और न श्रुत यह स्वय की जाती है। इस प्रकार वदा त परिभाषा के अनुसार उपपाद्य (काय) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है।[112]

(ख) अर्थापत्ति के प्रकार—अर्थापत्ति दो प्रकार की है—दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति।[113]

दृष्टार्थापत्ति जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी दृष्ट या देखी हुई घटना की व्याख्या हो उस दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जसे देवदत्त का मोटा दिखाई पडना तभी समझ म आ सकता है जबकि उसके रात्रि मे भोजन की बात स्वीकार की जाय।

श्रुतार्थापत्ति—जहा अर्थापत्ति के द्वारा किसी श्रुत (सुनी हुई घटना) की व्याख्या हो। जैस दवदत्त जीवित है, कि तु घर म नही है। इस कथन को सुनकर यह कल्पना की जाय कि दवदत्त घर के बाहर है।

पुन श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति।[114] किसी वाक्य का एक भाग सुनकर उससे जब सम्पूण वाक्य की कल्पना की जाती है तो उस अभिधानानुपपत्ति कहा जाता है। यथा—सप सुनकर हम कल्पना कर लेत हैं कि सप निकल आया है। बहुधा किसी वाक्य से निकला अथ प्रमाण विरोधी अथवा स्वतो-विरोधी होता है। ऐसी स्थिति म उस वाक्य के एक सगत अथ की कल्पना करनी पडती है। जस, मोक्ष की प्राप्ति से मरणधर्मा प्राणी अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस वाक्य के अथ स एक स्वतोव्याघात उपजता है कि मरणधर्मा अमर हो जाता है। इस व्याघात स बचने के लिये वाक्य का अथ निकालना पडता है कि मरणधर्मिता मिथ्या है।

(ग) अर्थापत्ति स्वतत्र प्रमाण के रूप मे—साख्य और नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति प्रमा का स्वतत्र साधन नही है। साख्य इस वैकल्पिक याय प्रमाणित करने की चेष्टा करता है तथा नैयायिक इस व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान कहते है। वाचस्पति ने सांख्यकारिका की टीका करत हुए अर्थापत्ति को वैकल्पिक याय कहा। वाचस्पति क अनुसार जीवित व्यक्ति

देवदत्त के घर पर नहीं होने से यह ज्ञान कि देवदत्त घर के बाहर है, एक प्रकार का वैकल्पिक अनुमान है।[115] इस अनुमान का रूप इस प्रकार है—

जीवित देवदत्त या तो घर में है या घर के बाहर है।

देवदत्त घर में नहीं है।

देवदत्त घर के बाहर है।

डॉ० डी० एम० दत्त ने सांख्यों की इस आपत्ति में आत्माश्रय दोष बतलाया है। डा० दत्त के अनुसार[116] सांख्यों द्वारा बताये गये अनुमान का वृहत वाक्य, जीवित देवदत्त या तो घर पर है या घर से बाहर है, कैसे प्राप्त हुआ? सुनकर तो हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि देवदत्त जीवित है और घर में नहीं है। देवदत्त घर से बाहर है यह तो निष्कर्ष रूप में जानते हैं। अत आधार वाक्य के रूप में, देवदत्त घर से बाहर है, का प्रयोग अवैध है।

नैयायिक मात्र चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान। शेष प्रमाणों का अन्तर्भाव वह इन्हीं चार प्रमाणों में करते हैं। इन शेष प्रमाणों में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमुख हैं। नैयायिक अर्थापत्ति का अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान में करते हैं।[117] देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी मोटा है इस आधार पर लिया गया निर्णय कि देवदत्त रात्रि में भोजन करता है—नैयायिकों के अनुसार अनुमान गम्य है। अनुमान का रूप इस प्रकार है।

प्रतिज्ञा —देवदत्त रात्रि में भोजन करता है।

हेतु—वह दिन में भोजन नहीं करता किन्तु मोटा है।

व्यतिरेक व्याप्ति—जो रात्रि में भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन नहीं करने पर मोटा नहीं रहता। जैसे दिन और रात भोजन नहीं करने वाला नवरात्रोपवासी पुरुष।

उपनय—देवदत्त नवरात्रोपवासी के समान दुर्बल नहीं है।

निगमन—अत रात्रि में भोजन करता है।

किन्तु वेदान्त व्यतिरेक व्याप्ति को नहीं मानते हैं अत उनके अनुसार अर्थापत्ति निगमन नहीं है[118] इस बात को नैयायिक भी स्वीकार करते हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति को अनुमान का अर्थापत्ति अनुमान का रूप होता है।

किन्तु वेदान्ती व्यतिरेक व्याप्ति को नहीं मानते हैं। अत उनके अनुसार अर्थापत्ति निगमन नहीं है। इस बात को नैयायिक भी स्वीकार करते हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति को अनुमान का आधार स्वीकार करने पर ही अर्थापत्ति अनुमान का रूप होता है।[119] किन्तु जैसा कि डा० डी० एम० दत्त ने स्पष्ट किया है व्यतिरेक व्याप्ति साक्षात रूप से किसी अनुमान का आधार नहीं बन सकता है।[120]

अर्थापत्ति और पाश्चात्य मत में प्राक्कल्पना—इस प्रकार अर्थापत्ति ज्ञान का स्वतन्त्र साधन है। डॉ० दत्त ने अर्थापत्ति को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में वर्णित प्राक्कल्पना के समकक्ष किन्तु उससे भिन्न कहा है।[121] इन दोनों में समानता यह है कि किसी दृश्य या श्रुत समस्या के समाधान के लिये प्राक्कल्पना भी की जाती है और अर्थापत्ति भी। किन्तु दोनों में भेद है कि प्राक्कल्पना को प्राक्कल्पना वाली स्थिति में कभी भी निश्चित नहीं

माना जाता । इसे सभाव्य कहते हैं । किन्तु अर्थापत्ति एक निश्चित ज्ञान अथवा प्रमा की तरह स्वीकार किया जाता है ।[122] अर्थापत्ति और प्राक्कल्पना म दूसरा अन्तर यह है कि अर्थापत्ति सदैव किसी विरोधाभास की स्थिति म की जाती है किन्तु प्राक्कल्पना के लिए यह आवश्यक नही । पुन अर्थापत्ति प्रमा का स्वतन्त्र साधन अथवा प्रमाण है किन्तु प्राक्कल्पना को पाश्चात्य तर्कशास्त्री प्रमाण का स्थान नही देता है ।

6 अनुपलब्धि

वेदान्त और भाट्ट मीमासा के अनुसार किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से हो सकता है और न किसी अन्य प्रमाण से । अभाव का ज्ञान मात्र अनुपलब्धि से होता है । अत अभाव के जानने का एक मात्र साधन अथवा प्रमाण अनुपलब्धि है ।

(क) **अनुपलब्धि का स्वरूप** अनुपलब्धि किसी वस्तु के अभाव का साक्षात ज्ञान है । उदाहरणार्थ, यहाँ घट नही है, यहाँ घट का अभाव प्रत्यक्ष द्वारा नही जाना जा रहा है । मीमासक और वेदान्ती के अनुसार घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अ दर्शन) के कारण होता है । इस उदाहरण म अगर यह कहा जाय कि घट के अभाव का घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है तो यह असगत होगा क्योकि अदर्शन और अभाव मे व्याप्ति सम्भव नही है । कोई भी व्यक्ति अगर यह कहता है कि जिसका दर्शन नही होता उसका अभाव है तो उसका कथन दोषपूर्ण है । इसी प्रकार अनुपलब्धि, शब्द या उपमान नही है । क्योकि यह न तो आप्त वाक्य से जाना जाता है और न सादृश्य से । ध्यातव्य है कि अनुपलब्धि सदैव अभाव का सूचक नही होता कमरे म रखे हुए घट की अनुपलब्धि प्रकाश के अभाव मे हो सकती है । किन्तु यह कहना कि घट नही है, मिथ्या होगा । वस्तुत अनुपलब्धि का अर्थ है— योग्यानुपलब्धि । अर्थात् जो वस्तु जिस परिस्थिति म मिलनी चाहिये उस परिस्थिति म उसकी उपलब्धि न होने से उसका अभाव होता है ।

(ख) **अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे** जिन दार्शनिको ने अनुपलब्धि को प्रमाण स्वीकार नही किया वे इसके आधार पर प्राप्त ज्ञान को या तो प्रत्यक्ष पर आधारित स्वीकार करते हैं या अनुमान पर । किन्तु अनुपलब्धि के समर्थको ने उनके इस आरोप का खडन किया है जिसकी सक्षिप्त चर्चा नीचे की गई है ।

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नही है— नैयायिको ने अनुपलब्धि को अनावश्यक ही कहा है । उनके अनुसार अनुपलब्धि को मात्र अभाव का प्रमाण माना जाता है । किन्तु वे मानते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है ।[123]

मीमासको के अनुसार अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नही है । अभाव कोई वस्तु नही है । अत इसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क सम्भव नही । फलत इसका प्रत्यक्ष नही हो सकता है । इसके उत्तर म नैयायिक कहते है कि अभाव एक प्रकार का पदार्थ है और अभाव के लिये

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष एक विशेष प्रकार से होता है जिसे वे विशेषणता कहते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसे स्पष्ट करते हुए नैयायिक कहते हैं[124] कि अभाव का ज्ञान अधिष्ठान के विशेषण के रूप में होता है। जैसे, इस स्थल पर घट का अभाव है। इन्द्रिय से इस स्थल का सम्पर्क होता है और घट के अभाव का ज्ञान उसके विशेषण के रूप में होता है।

न्याय के इस तर्क के उत्तर में प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि सम्पर्क इन्द्रिय से विशेष्य का यथा इस स्थल का होता है। अतः प्रत्यक्ष से जो ज्ञात होता है वह ज्ञान विशेष्य का है विशेषण का नहीं। क्योंकि यहाँ विशेषण से सम्पर्क नहीं होता। अतः विशेषण अर्थात अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होता है।

इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि यह असम्बद्धता का दोष प्रतिपक्ष पर भी आता है। क्योंकि प्रतिपक्ष के सामने भी यह प्रश्न उठता है कि अगर अभाव संबंध नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे होता है?[125] किन्तु यहाँ आकर ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिकों के तर्क में बल नहीं है। क्योंकि अनुपलब्धि प्रमाण के समर्थक अनुपलब्धि के लिए संसर्ग या संबंध को आवश्यक नहीं मानते वरन् उनके अनुपलब्धि प्रमाण का आधार ही यही है कि वे अभाव को अधिष्ठानातिरिक्तम् तत्वम कहते हैं। स्पष्टतः अधिष्ठान का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से होता है पर अतिरिक्त तत्व को हम अनुपलब्धि से जानते हैं। अतः अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष कहना उचित नहीं है।

अनुपलब्धि अनुमान नहीं है—वैशेषिकों में प्रशस्तपाद ने सातवें पदार्थ के रूप में अभाव की चर्चा की है। परन्तु उनके अनुसार अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने भी अभाव का ज्ञान अनुमान से ही बताया है। धर्मकीर्ति के अनुसार अभाव का ज्ञान निम्नलिखित अनुमान से होता है

जहाँ जो वस्तु होती है उचित परिस्थितियों में उसका प्रत्यक्ष होता है।
इस कमरे में घट का प्रत्यक्ष उचित परिस्थितियों में नहीं हो रहा है।
अतः इस कमरे में घट का अभाव है।

किन्तु वेदान्त इस अनुमान को आत्माश्रय दोष से ग्रस्त बताते हैं। घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है—यह कैसे स्पष्ट होता है? वेदान्त के अनुसार यह स्पष्टीकरण ही अनुपलब्धि के द्वारा होता है। अतः अनुपलब्धि को अनुमान कहना अनुचित है।[126] इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमा का एक वैध और स्वतन्त्र साधन है।[127]

इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण को प्रमा का साधन स्वीकार किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ज्ञान के लिए प्रमाण को एक उपाधि माना है। किन्तु यहाँ प्रमाण का अर्थ प्रथम अर्थ से भिन्न प्रतीत होता है। इनके तुलनात्मक विवेचन के लिए हम आगे इस संबंध में रसेल, एयर, वूजले और चिज्म के मत की चर्चा करेंगे और इसके विश्लेषण से उत्पन्न प्रमाण की कुछ समस्याओं पर विचार करेंगे।

(आ) पाश्चात्य दर्शन मे प्रमाण

पाश्चात्य दर्शन म जानना और सत्य विश्वास का भेद स्पष्ट करने म प्रमाण की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की गई है। किंतु प्रमाण की समस्या उठात हुए सभी पाश्चात्य दार्शनिको ने समान पदावली का प्रयोग नही किया है। तथापि हम देखेंगे कि मूलत उन विवेचनाओ का स्वर एक ही है और समस्याएँ भी मूलत समान रूप स ही उठायी गई हैं। हम इस सदर्भ म क्रमश रसेल, एयर, वूजले और चिज्म क मत की सक्षिप्त चर्चा करेंगे।

1 रसेल का मत

रसेल ने जानने की तृतीय उपाधि के रूप म एविडे स (प्रमाण) पद का प्रयोग किया है।[128] रसल न प्रमाण पद के दो लक्षण बताये हैं [129]

(क) प्रमाण कुछ तथ्यो से युक्त होते हैं। जो तथ्य असदिग्ध समझकर स्वीकार कर लिये जाते हैं।

(ख) प्रमाण कुछ सिद्धा तो स युक्त होते है जिन सिद्धान्तो को साधन बना कर प्रमाण से प्राप्त तथ्यो के आधार पर कुछ अनुमान किये जाते हैं।

इस प्रकार रसेल की परिभाषा क अनुसार प्रमाण म दो बाते है

(i) तथ्य और

(ii) सिद्धा त।

रसेल के अनुसार प्रमाण के निम्नलिखित कार्य हैं

(i) प्रमाण से कुछ अनुमान निकाले जाते ह,

(ii) प्रमाण के तथ्य अनुमान के आधार वाक्य का कार्य करते हैं, और

(iii) प्रमाण मे सन्निहित सिद्धा त आधार वाक्य से निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये साधन रूप म प्रयुक्त होते हैं।

पुन रसेल प्रमाण का एक चौथा कार्य भी मानते हैं

(iv) प्रमाण किसी विश्वास को सबल प्रदान करता है।[130]

प्रमाण के इन चार कार्यों को प्रमाण का लक्षण भी कहा जा सकता है। पर तु अभी प्रमाण पद के और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। जसे, चौथा वाक्य लें—प्रमाण किसी विश्वास को सबल प्रदान करता है। सबल प्रदान करन का क्या अर्थ है? सामान्य प्रयोग मे सबल का अर्थ है किसी निर्बल वस्तु को किसी सबल वस्तु का सहारा। जसे, लता को सीधी खडी करने क लिये बास का अथवा लकडी का सबल दिया जाता है। इस अर्थ म प्रमाण को विश्वास का सबल कहन का तात्पर्य यह होगा कि विश्वास एक कमजोर वस्तु है जो निराधार नही रह सकती है और प्रमाण विश्वास को दृढता प्रदान करता है। शब्दातर स प्रमाण वह है जिसक आधार पर किसी विश्वास को दृढतापूर्वक स्वीकार किया जा सके। इस प्रकार प्रमाण विश्वास का आधार है।

अगर प्रमाण का काय विश्वास को सबल प्रदान करना है तो क्या इसकी सगति प्रमाण के दूसरे नवर के इस कार्य को साथ बठाई जा सकती है कि प्रमाण से प्राप्त तथ्य अनुमान के आधार होते हैं ? यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रमाण के द्वितीय और चतुथ काय को समानाथक कह देना उचित नही है। क्योकि प्रमाण का चौथा काय विश्वास के आधार की वात करता है तथा प्रमाण का दूसरा काय अनुमान के आधार-वाक्य की वात करता है। तथा अनुमान और विश्वास एक ही नही स्वीकार किये जा सकते हैं।

इस विवाद का समाधान प्रमाण के प्रथम, द्वितीय और तृतीय कार्यों के स्पष्टीकरण स होता है। प्रमाण के प्रथम काय के अनुसार प्रमाण से अनुमान निकाले जाते हैं। द्वितीय काय के अनुसार इस अनुमान का स्वरूप ऐसा है कि अनुमान के आधार वाक्य का काय भी प्रमाण ही करते हैं तथा प्रमाण का तृतीय काय है कि यद्यपि अनुमान के सिद्धात परम्परागत रूप स आगमनात्मक और निगमनात्मक तकशास्त्र के सिद्धात है तथापि ये सिद्धात प्रमाण के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। इस प्रकार चौथे काय के अनुसार आधार वाक्य से अनुमान निकालने का साधन भी प्रमाण ही है। यहा ध्यातव्य है कि अनुमान अपने आधार वाक्य स भिन्न होता है। अत प्रमाण के आधार पर निकाला गया अनुमान प्रमाण नही होता है। किन्तु जिस प्रकार आधार-वाक्यो स प्राप्त अनुमान दूसरे अनुमान म आधार-वाक्य का रूप धारण कर सकता है उसी प्रकार प्रमाणो के आधार पर जो प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान या विश्वास होते हुए भी दूसरे स्थल पर प्रमाण की तरह प्रयोग किया जा सकता है।

किन्तु यहा आकर रसेल के प्रमाण सवधी विवेचन मे थोडी अस्पष्टता आती है। रसल इसे स्पष्ट नही कर पाए है कि (1) प्रमाण स जो अनुमान निकाला जाता है क्या वह अनुमान ही वह विश्वास है जो उस प्रमाण से सबल प्राप्त करता है, अथवा (2) प्रमाण स निकाला गया अनुमान और विश्वास पथक् पृथक होते हैं तथा विश्वास इस अनुमान स सबल प्राप्त करता है ?

यहा समस्या के समाधान के लिए ऐसा माना जा सकता है कि कुछ स्थितियो म प्रमाण द्वारा निकाला गया अनुमान ही वह विश्वास है जो प्रमाण से सबल प्राप्त करता है, जसे, मैंने देखा कि क ख से वडा है। इसे आधार वाक्य बनाकर अनुमान किया कि ख क से छोटा है। इस स्थिति मे प्रमाण के दूसरे और चौथे काय एक समान लगते है।

किन्तु कुछ स्थितियो म प्रमाण से निकाले गए अनुमान कुछ विश्वासो का सबल भी प्रदान करते हैं। जसे, मैंने देखा कि कॉलेज म बारिश हुई। इस प्रमाण को आधार-वाक्य बनाकर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि स्कूल म भी बारिश हुई। इस अनुमान से मेरे इस विश्वास को सबल मिल सकता है कि आज मु ना स्कूल से भीगता हुआ लौटेगा।

किन्तु यहाँ महत्त्वपूण यह ह कि इन दोनो ही स्थितिया मे प्रमाण विश्वास को दढ करने का साधन ह।

2 एयर का मत

एयर जानने की तीसरी उपाधि बताते हैं विश्वास करने का अधिकार होना।[131] अर्थात् अगर विश्वास सत्य हो तथा उस सत्यता पर विश्वास करने का अधिकार हो तो हम इस स्थिति को जानने की स्थिति कह सकते हैं।

विश्वास करने का अधिकार कैसे प्राप्त किया जाता है? एयर के अनुसार तर्कशास्त्र अथवा गणित के सत्यों के जानने का दावा वैध तब समझा जाता है जबकि व्यक्ति इनके पक्ष मे कोई वैध प्रमाण दे सके।[132] आनुभाविक प्रतिज्ञप्तिया प्रत्यक्ष, स्मृति, शब्द, ऐतिहासिक प्रमाण वैज्ञानिक नियमो के सदर्भ मे स्थापित की जाती है। किन्तु एयर के अनुसार विश्वस्त होने का अधिकार प्रदान करने वाले इन तत्वो की सम्पूर्ण सूची बनाने मे कठिनाई है[133] और इस अधिकार को प्राप्त करने की कोई सार्वभौम विधि नही है।[134] यहा एक सभावना यह भी है कि विश्वास को अधिकृत बनाने वाले जिन तत्वो की सूची हम दें वे सब मिलकर भी जानने के किसी विशेष दावे के लिये कोई सबल आधार न प्रस्तुत कर सके।[135] एयर कहते हैं कि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कब और किस प्रकार व्यक्ति का विश्वास अधिकृत होता है।[136] एयर के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर पद अथवा परिभाषा मे बाध कर नही दिया जा सकता, वरन् इस व्यावहारिकता के धरातल पर ही सुलझाना होगा।[137]

तथापि एयर स्मृति, प्रत्यक्ष, शब्द आदि को विश्वास को आधार प्रदान करने वाला स्वीकार करते हैं। इस प्रकार तृतीय उपाधि के रूप मे रसेल की भाति विश्वास को अधिकृत बनाने के लिये या आधार प्रदान करने के लिये[138] कुछ तथ्यो की आवश्यकता एयर भी स्वीकार करते है जिन्हे वे प्रमाण की सज्ञा देते है।[139] रसेल की परिभाषा मे हम देख चुके हैं कि रसेल भी तृतीय उपाधि के रूप मे प्रमाण को इसी अर्थ मे (आधार प्रदान करने वाले अर्थ मे) स्वीकार करते है।

3 वूजले का मत

किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने की तीसरी उपाधि के रूप मे वूजले तीन तथ्य प्रस्तुत करते है[140]—

(i) क के पास प्रमाण होना चाहिये,

(ii) प्रमाण को सही होना चाहिये, और

(iii) प्रमाण का निष्कर्ष से सम्बन्ध सही होना चाहिये।

किन्तु प्रमाण क्या है? वूजले के शब्दो मे यह विश्वास का आधार है।[141] किन्तु 'विश्वास का आधार' पद पुन अस्पष्ट है। यद्यपि इस पद को स्पष्ट करने की चेष्टा वूजले ने नही की है किन्तु विश्वास के जो उदाहरण वूजले ने दिये हैं[142] उनसे स्पष्ट होता है कि वूजले प्रमाण का अर्थ जानने का साधन समझते हैं।

तथ्य (ii) के सम्बन्ध मे आपत्ति की सम्भावना है। प्रमाण को सही होना चाहिए का क्या अर्थ है? कब किसी प्रमाण को सही कहेंगे? मेरी कलम मेरे हाथ से

नीचे गिर गई (अ) इसका प्रमाण यह नहीं हो सकता है कि इस समय सड़क पर एक साईकिल की घंटी बजी (ब) अथवा इस समय सवेरे के पांच बज रहे हैं (स) वस्तुत प्रमाण का अर्थ जैसा कि वूजले भी स्वीकार करते हैं, किसी विश्वास को सबल देना है। शब्दान्तर से प्रमाण ऐसे तथ्य को कहते हैं जिसके आधार पर किसी तथ्य को अपेक्षाकृत दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया जा सके। अब (अ) के लिये (ब) या (स) को प्रमाण रूप इसलिये नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि ये (अ) को सतुष्ट करने का कार्य नहीं करते। वस्तुत कोई भी प्रतिज्ञप्ति (ब) किसी प्रतिज्ञप्ति (अ) के लिए सही या गलत प्रमाण है या नहीं—प्रश्न यह नहीं होता। प्रश्न होता है—कोई भी प्रतिज्ञप्ति (ब) (अ) के लिए प्रमाण है या नहीं ? इस प्रकार प्रमाण के सम्बन्ध में मात्र यह कहना ही पर्याप्त है कि क के पास प्रमाण होना चाहिए। यहाँ यह कथन अनावश्यक है कि प्रमाण का सही होना चाहिए। किन्तु वैधता के अर्थ में वूजले के (ii) तथ्य को स्वतंत्र रूप से स्वीकार भी किया जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि कोई भी प्रमाण क के लिये सही तब तक नहीं हो सकता है जब तक वह प्रमाण वैध प्रमाण की कोटि में नहीं आता। यद्यपि वैध प्रमाण की संख्या प्रकार आदि समस्या पर वूजले विचार नहीं करते।

पुन जब वूजले यह कहते हैं कि प्रमाण का निष्कर्ष से सम्बन्ध सही होना चाहिये तो इसमें यही प्रतिध्वनित होता है कि प्रमाण वह आधार वाक्य है जिससे प्राप्त निष्कर्ष हमारे ज्ञान को सपुष्ट करता है। इस प्रकार वूजले प्रमाण के सम्बन्ध में रसेल के मत के निकट चले जाते हैं ऐसी स्थिति में रसेल की ही भांति वूजले से भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि (क) प्रमाण से जो अनुमान निकाले जा सकते हैं क्या वे अनुमान ही वह विश्वास हैं जो प्रमाण से सबल प्राप्त करते हैं, अथवा, (ख) प्रमाण से निकाला गया अनुमान और विश्वास पृथक्-पृथक होते हैं तथा विश्वास इस अनुमान से सबल प्राप्त करता है। वूजले भी रसेल की भांति न तो इस समस्या को उठाते हैं और न इसका समाधान ही प्रस्तुत करते हैं। किन्तु हम देख चुके हैं कि इस समस्या का सही समाधान यही है कि कुछ स्थितियों में यह मानना चाहिये कि प्रमाण द्वारा निकाला गया अनुमान ही वह विश्वास है जो प्रमाण से सबल प्राप्त करता है तथा कुछ स्थितियों के लिए सत्य यह है कि प्रमाण से निकाले गये अनुमान कुछ अन्य विश्वासों को सबल भी प्रदान करते हैं।

4 चिज्म का मत

चिज्म जानने की तीसरी उपाधि बताते हैं—दोष रहित रूप से प्रमाण युक्त होना।[143] इसमें दो बातें हैं—दोष रहित होना तथा प्रमाण युक्त होना। अर्थात् किसी व्यक्ति क का किसी प्रतिज्ञप्ति प को जानने का दावा वैध तब होता है जब कि अन्य उपाधियों के साथ साथ प क के लिये दोष रहित रूप से प्रमाण युक्त हो। दोषरहित रूप से प्रमाणयुक्त होना क्या है ? इसे समझने के लिये प्रथमत प्रमाणयुक्त पद का अर्थ समझना होगा। चिज्म के अनुसार जब हम किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने का दावा करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम यह बता सकने की स्थिति में है कि उक्त प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार

करने के लिये हमारे पास कौन से तर्क अथवा आधार हैं?[144] चिज्म प्रमाण का कार्य प्रतिज्ञप्ति को आधार प्रदान करना बताते हैं।[145] प्रमाणयुक्त होने का अर्थ है कुछ तथ्यों द्वारा या प्रतिज्ञप्तियों द्वारा समर्थित होना, या, उन पर आधारित होना।[146]

चिज्म के अनुसार कोई भी प्रतिज्ञप्ति दो प्रकार से प्रमाणयुक्त हो सकती है

(i) साक्षात रीति, और

(ii) असाक्षात रीति।

(i) साक्षात रीति से प्रमाण युक्त को पारिभाषित करने के लिए चिज्म ने एक और सम्प्रत्य आत्म प्रदर्शन का व्यवहार किया है। उनकी परिभाषा में तथ्य एवं प्रतिज्ञप्ति दोनो ही आत्म प्रदर्शक हो सकते हैं जिसे वे इस प्रकार व्यक्त करते है—

(अ) कोई भी तथ्य प किसी व्यक्ति क के लिये किसी समय स में तब आत्म प्रदर्शक होता है जब प स में घटता है और अनिवार्यतः यदि प स में घटता है तो प क के लिए प्रमाण युक्त होता है।[147]

(आ) वैकल्पिक रूप से, कोई प्रतिज्ञप्ति 'प' किसी व्यक्ति क के लिये किसी समय स मे तब आत्मप्रदर्शक होती है जब 'प' स में सत्य होता है और अनिवार्यतः यदि 'प' स में सत्य है तो 'प' क के लिये प्रमाण-युक्त होता है।[148]

चिज्म ने इन दोनो परिभाषाओं को अपनी पुस्तक मे स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'मैं सोचता हूं' क के लिये तब आत्मप्रदर्शित है जब वस्तुतः क सोच रहा होता है तथा 'मैं सोचता हूँ' क के लिये प्रमाण-युक्त भी है।

अब हम साक्षात् रीति से प्रमाणयुक्त की परिभाषा दे सकते है—

प का क के लिये साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त होने का अर्थ है कि प तार्किक रूप से आकस्मिक हो तथा कोई त है जो (i) क के लिये आत्म प्रदर्शित हो तथा (ii) त को स्वीकार किये जाने की प्रत्येक स्थिति मे अनिवार्यतः प को स्वीकार किया जा सके।

अर्थात किसी आत्म प्रदर्शित तथ्य या प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार करने पर अनिवार्यतः किसी ऐसे तथ्य या प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार किया जा सकता है जो उस आत्म-प्रदर्शित से पृथक कोई तार्किक अनिवार्यता न हो, आकस्मिक प्रतिज्ञप्ति हो। अथवा, साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त वही तथ्य या प्रतिज्ञप्ति हो सकते हैं जिनमें तार्किक अनिवार्यता न हो या जो आकस्मिक हो किन्तु किसी आत्मप्रदर्शित तथ्य अथवा प्रतिज्ञप्ति के आधार पर अनिवार्यतः स्वीकार्य हो। जैसे कुछ लोग सोचते हैं—यह न तो तार्किक अनिवार्यता ही है और न आत्मप्रदर्शक ही। किन्तु मैं सोचता हूँ सोचे जाने की स्थिति में मेरे लिये आत्म प्रदर्शित है अतः स्वीकार्य भी तथा जैसे ही मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं सोचता हूँ, इस आत्म प्रदर्शित तथ्य के आधार पर यह तथ्य मेरे लिये साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त हो जाता है कि कुछ लोग सोचते हैं। इस प्रकार आत्मप्रदर्शित तथ्यों या प्रतिज्ञप्तियों के अनिवार्यतः प्रमाणयुक्त होने पर भी आत्मप्रदर्शित और साक्षात रीति से

प्रमा ण्युक्त पर्यायवाची पद नही है। साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त का सप्रत्यय आत्मप्रदर्शित अधिक व्यापक है[149] क्योकि आत्मप्रदर्शित के आधार पर कोई प्रतिज्ञप्ति साक्षात रीति स प्रमाणयुक्त हो सकती है। किन्तु साक्षात रीति से प्रमाण युक्त प्रतिज्ञप्तिया क आधार पर कोई विशेष आत्मप्रदर्शित प्रतिज्ञप्ति या तथ्य सिद्ध नही होत। जसे, मैं साचता हूँ के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ लोग सोचते हैं लेकिन कुछ लोग सोचते हैं के आधार पर यह स्वीकार नही किया जा सकता कि मैं सोचता हूँ। यहाँ ध्यातव्य है कि चूकि कोई भी प्रतिज्ञप्ति साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त आत्मप्रदर्शित प्रतिज्ञप्तियो अथवा तथ्यो के आधार पर ही होती है, अत जब हम किसी प्रतिज्ञप्ति के बारे म स्वीकार कर लेते हैं कि यह साक्षात रूप से प्रमाणयुक्त है तब हम प्रछन्न रूप से किसी आत्मप्रदर्शित प्रतिज्ञप्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किंतु वह आत्मप्रदर्शित प्रतिज्ञप्ति क्या है ? अथवा, कौन सी है ? यह हम जान नही पाते। जसे—कुछ लोग सोचते हैं, इस जैस ही हम साक्षात रीति स प्रमाणयुक्त स्वीकार करते हैं हम यह भी स्वीकार करने को बाध्य हैं कि कोई एक आत्मप्रदर्शित प्रतिज्ञप्ति है जिसके आधार पर हम इसे साक्षात रूप से प्रमाणयुक्त कह रहे हैं। लेकिन इस आधार पर हम यह नही जान पाते कि वह आत्म प्रदर्शित प्रतिज्ञप्ति है—'मैं सोचता हूँ'।

(ii) असाक्षात रीति से प्रमाणयुक्त कोई भी प्रतिज्ञप्ति तीन प्रकार से हो सकती है।[150] (क) साक्षात रीति से प्रमाणयुक्त तथ्यो अथवा प्रतिज्ञप्तियो से सम्बन्धित होने पर, (ख) किसी अन्य असाक्षात रीति से प्रमाणयुक्त तथ्य अथवा प्रतिज्ञप्ति से सम्बन्धित होने पर, (ग) अपने स्वरूप के द्वारा।

अब हम दोषरहित रूप म प्रमाणयुक्त हाने का अथ बता सकते है। चिज्म के अनुसार दोषरहित रूप से प्रमाणयुक्त होने का अथ निम्नलिखित है[151]—

'प' दोषरहित रूप से क के लिये प्रमाणयुक्त तब है जब 'प' क के लिये है या 'प' क के लिये प्रमाणयुक्त है तथा 'प' किन्ही ऐसी प्रतिज्ञप्तियो के सयोजन से आपादित है जिनम से प्रत्येक क को ऐसा आधार प्रदान करता है जो क के लिये असत्य किसी प्रतिज्ञप्ति को आधार प्रदान नही करता।

इस प्रकार चिज्म प्रथमत रसेल की भाति स्वीकार करते हैं कि प्रमाण विश्वास को सबल प्रदान करता है तथा द्वितीयत चिज्म बूजले की भाँति प्रमाण के कुछ नियम भी स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार सभी पाश्चात्य दार्शनिक शब्दो के तनिक हेर फेर से प्रमाण को विश्वास के साधन के रूप म स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक प्रमाण के सम्बन्ध म मुख्यत दो प्रकार के प्रश्न उठाते है—

(क) कितने प्रमाणो के आधार पर जानना वैध होता है ? यह प्रश्न प्रमाणो के परिणाम से सम्बन्धित है।

(ख) किस प्रकार के प्रमाणो के आधार जानने का दावा वैध होता है ? यह प्रश्न प्रमाणों के प्रकार अथवा गुण से सबन्धित है।

5 प्रमाणो की परिमाणात्मक समस्या

कितने साक्ष्यो के आधार पर जानने का दावा करना सही होता है ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि कुछ प्रमाणो के आधार पर जानने की बात नही की जा सकती। कल वर्षा नहीं होगी—इसका एक प्रमाण यह भी है कि आज रात म आकाश स्वच्छ है और आस पास कही वर्षा होने की सूचना नही मिली है । पर क्या इतने ही प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कल वर्षा नही होगी ? निश्चय ही नही। सम्भव है अभी आध घटे के अन्दर ही जोर स आधी चलने लग, आसमान म बादल घिर आए और कल तक वर्षा होती रहे। अत यहाँ हमारा जानने का दावा गलत है। कुछ प्रमाणो के आधार पर जानने की बात म एक और कठिनाइ यह है कि 'कुछ' शब्द सुस्पष्ट नही है । 'कुछ' अथ एक प्रमाण भी हो सकता है और अनेक भी। अत 'कुछ' प्रमाण कहने से कठिनाइ दूर नही होती।

प्रमाणो की सख्या के विषय मे यह कहा जा सकता है कि जितने प्रमाण उपलब्ध हो उन सब की उपस्थिति म जानने का दावा सही होता है। किन्तु बहुधा उपलब्ध सभी प्रमाण मिलकर जानना तो दूर काई सबल अनुमान तक का साक्ष्य प्रस्तुत नही कर पाते। मगल ग्रह पर प्राणियो की उपस्थिति के लिये जितने प्रमाण उपलब्ध हैं उनके आधार पर स्पष्टत यह अनुमान भी नही किया जा सकता कि वहाँ प्राणी है अथवा नही। अत इस आधार पर भी जानने का दावा नही किया जा सकता।

जानने के लिये पर्याप्त प्रमाण की माँग करने म भी कठिनाई है क्योकि प्रमाणो को पर्याप्त कब कहेंगे ? एक छात्र बराबर बहुत सयत और अनुशासित रहा है। इस आधार पर व्यावहारिक दृष्टि से यह जानने का दावा किया जा सकता है कि वह बराबर सयत और अनुशासित रहेगा। पर तु अनायास एक दिन देखा जाता है कि वही छात्र किसी बात पर उत्तेजित होकर असयत व्यवहार कर बठा है। तब, इस स्थिति म यद्यपि एक शिक्षक के पास यह जानने का पर्याप्त प्रमाण था कि वह छात्र सयत रहेगा, यह नही कहा जा सकता कि वह शिक्षक जानता था कि छात्र बराबर सयत और अनुशासित रहेगा। वस्तुत पर्याप्त' शब्द भी स्पष्ट नही है। यहाँ भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कसे और कितन प्रमाणो के एकजुट होन पर उस पर्याप्त कहा जा सकता है ? इस दृष्टि से 'पर्याप्त प्रमाण' शब्दान्तर म कुछ प्रमाण' के समान ही अस्पष्ट है।

क को प' का ज्ञान हो सके इसके लिये अगर यह कसौटी दी जाय कि क को प' की सत्यता म विश्वास के लिय सारे सभव प्रमाण उपलब्ध हो, तब वे सारी प्रतिज्ञप्तियाँ जिनके जानने का दावा सामान्यत किया जाता है, जानी नही जा सकती क्योकि उन सभी स्थितियो म इस कसौटी का पालन नही किया जाता। मेरे सामने एक टेबुल है—इस प्रतिज्ञप्ति को जानने की बात कब की जा सकती है ? जब इसकी सत्यता म सम्बन्धित सारे सम्भव प्रमाण उपलब्ध हो। तार्किक दृष्टि असख्य बिन्दुओ स अनन्त काल तक टेबुल का निरीक्षण सम्भव है। अगर एक बार निरीक्षण म इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के लिये एक प्रमाण उपलब्ध होता है तो हजारो बार निरीक्षण से निश्चय ही

अधिक प्रमाण प्राप्त होगे और इस प्रकार प्रमाणो का सकलन अगृहीत होगा। तथा कभी भी सारे सम्भव प्रमाणा की उपलब्धि का दावा सत्य नही होगा।[152]

'कितने प्रमाण ?' के उत्तर म यह भी कहा जा सकता है कि उतने प्रमाण जितने से जाना जा सके पर यह उत्तर भी चक्र दोष पूण है। हम जानने की परिभाषा बताने की चेष्टा कर रहे हैं और जिन शब्दो द्वारा हम परिभाषा दे रहे हैं उसमें पुन 'जाना जा सके' शब्द का प्रयाग कर रह हैं। यह परिभाषा का दोष है।

एक प्रश्न और भी उठ सकता है कि क्या जितने प्रमाण उपलब्ध हों उनसे कुछ कम प्रमाणो के आधार पर जानने की वात नही की जा सकती है ? क्या 99 9 प्रतिशत प्रमाणा के आधार पर जानने की बात नही की जा सकती ? यह प्रश्न समीचीन है। अगर सभी सम्भव प्रमाणा म से कुछ कम के आधार पर ही जानने का दावा किया जा सके तो बहुत सी ऐसी प्रतिज्ञप्तिया, उदाहरणाथ—'मेरे हाथ म कलम है' या 'मेरे सामने टेवुल है,' प्रश्न चिह्न स वच जाएगी। परन्तु इस आधार पर भी जानने का दावा करने मे कठिनाई है। सम्भव है 99 9 प्रतिशत प्रमाण तो प्रतिज्ञप्तियो के पक्ष म हो तो परन्तु अतिम प्रमाण ही प्रतिज्ञप्ति के विपक्ष मे निकल जाए। इस स्थिति म हमारा जानना का दावा असत्य प्रमाणित होगा।

6 प्रमाणो की गुणात्मक समस्या

गुणात्मक स्तर पर प्रमाण औपाधिक या अनौपाधिक हो सकते हैं। क का 'प' की सत्यता म विश्वास करने के लिये उपलब्ध प्रमाण औपाधिक तब होते है जब कि कुछ वसी उपाधिया पर आधारित होते हैं। यदि क का मकान पटना मे हो जहाँ वह दो दिनो पूव राची आया हो, और यदि क कहता हो कि मुझे इसका ज्ञान है कि मेरे मकान मे पाच कमरे हैं, क्याकि उसके मकान म पाँच कमरे हैं इसकी सत्यता म विश्वास के लिए उसके पास प्रमाण है कि उसने स्वय मकान वनवाया है क के परिवार वाले और उसकी मित्र मण्डली इसके साक्षी ह, इसम तीन कमरो मे वह स्वय रहता है और शेप दो कमरे उसने किराए पर दे रखे हैं, आदि। अब, यहाँ भी उसके ज्ञान का दावा गलत हो सकता है क्योकि उसके मकान म पाच कमरे है यह भी कुछ उपाधिया पर निभर करता है, जसे उसके पटने स राँची आने के बीच, भूकम्प या वाढ से वह मकान नही गिर गया हो अथवा अनधिकृत भूमि पर बने होने के कारण सरकार ने उसे बिना किसी सूचना के ताड नही दिया हो या क का स्मतिभ्रश न हुआ हो अथवा देकात का दुष्ट दानव उसे जानबूझ कर बरगला न रहा हो आदि। इस प्रकार क का 'प' का ज्ञान जिन प्रमाणो पर आधारित है वे कुछ अन्य उपाधियो पर निभर करत हैं। यदि य उपाधियाँ घ हो और प्रमाण म हो तो 'प' का ज्ञान म के ज्ञान पर और म का ज्ञान घ के ज्ञान पर निभर करता है। अर्थात जब तक घ का ज्ञान न हो, 'प' का ज्ञान नही हो सकता और जब तक म का ज्ञान नही हो घ का ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार म का ज्ञान भी किसी अन्य न के ज्ञान पर और न का ज्ञान किसी अन्य स के ज्ञान पर आधारित होगा। इस प्रकार प्रमाण

के औपाधिक होन से अनवस्था दोष उत्पन्न होता है।[153]

इस विषम स्थिति से बचने के लिये ज्ञानमीमासको ने ज्ञान के सदर्भ म अनौपाधिक प्रमाण की माग की है। अर्थात इसके अनुसार ज्ञान के लिये ऐसे प्रमाणो का सहारा लिया जाना चाहिए जिनका ज्ञान अन्य उपाधियो पर आधारित न हो। इस अर्थ म कहा जा सकता है कि क को 'प' का ज्ञान होने के लिये आवश्यक है कि क को 'प' की सत्यता म विश्वास का अनौपाधिक प्रमाण हो। अनौपाधिक प्रमाणो के रूप म दो प्रकार की चर्चा की गई है जो सदेहवादी प्रहार से बचे रहते हैं।[154]

(क) इद्रिय प्रदत्त 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे समक्ष टेबुल है, इस प्रतिज्ञप्ति के लिए सत्यता असत्यता का प्रश्न नही उठता। 'मेरे समक्ष टेबुल है' और' मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरे समक्ष टेबुल है,—म अन्तर है। पहली प्रतिज्ञप्ति की सत्यता सदिग्ध हो जाती है, क्योकि सत्यता अनौपाधिक नही है। हम अपने सामने एक लाल भूरा धब्बा देखते हैं और अनुमान करते हैं कि यह एक टेबुल है। सम्भव है हमारा अनुमान गलत हो। अत यहाँ प्रतिज्ञप्ति की असत्यता की सभावना बनी रहती है। किन्तु दूसरी प्रतिज्ञप्ति मे असत्यता की बात नही। जैसा कि सवतिवादी मानते हैं। गलती कभी भी इन्द्रिय सवेदना म नही होती, अनुमान म होती है। यहाँ जब टेबुल के प्रतीत होने की बात की जा रही है तो चूकि यहाँ हम प्रतीतपरक भाषा का प्रयोग कर रहे है, अत इस प्रतिज्ञप्ति की असत्यता की बिल्कुल सम्भावना नही है। वस्तुत टेबुल का होना दूसरी प्रतिज्ञप्ति म हमारी चेतना मे अव्यवहित रूप से वर्तमान है। अव्यवहित रूप से वर्तमान होने का अर्थ है कि मुझे इसकी चेतना अनुमान से या अन्य किसी बौद्धिक प्रक्रिया से प्राप्त नही हुई है।[155] अत यहा गलती की सभावना बिल्कुल नही है।

परन्तु यह निष्कर्ष वैध नही है। जसा कि एयर ने प्रमाणित किया है कि इन कथनो को भी हम इस प्रकार जानते है कि ये तथ्यो से सम्बन्धित हैं। इन कथनो का आधार तथ्य हैं।[156] अगर तथ्य सत्य है तो अनुभूतिया सत्य हैं तथ्य असत्य है तो अनुभूतियो तक पहुँचने की कुछ सीढियाँ हैं और सदेहवादी प्रहार यही करता है कि ये सीढिया वैध नही हैं।[157]

द्वितीयत अगर किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय ये कथन सदेहवादी प्रहार से सुरक्षित हैं तब भी प्रश्न है कि क्या इस प्रकार के कथनो का ज्ञान की सज्ञा दी जा सकती है? यह सत्य है कि आँखो के आगे चौकोर भूरे धब्बो का अनुभव करना और टेबुल को जानना—दोनो एक ही बातें नही हैं।[158] सवेदन ज्ञान की आवश्यकता शर्त हो सकती है ज्ञान नही। इन्द्रिय प्रदत्त को ज्ञान कह देने म एक कठिनाई और है। इन्द्रिय प्रदत्त सर्वथा वैयक्तिक है और इस प्रकार ज्ञान का रूप सार्वजनिक नही रह जाता है।

(ख) प्रागनुभविक कथन ऐसे भी कथन है कि जो विश्व के बारे म कोई दावा नही करते। जैसे दो और दो का योगफल चार है। इस प्रकार के कथन असदिग्ध और अनिवार्य हैं, उनके लिए प्रमाणो की आवश्यकता

नही। पर ऐसे कथनो को दशन के क्षेत्र म प्रतिष्ठित करने म कठिनाई है। क्योकि ऐसे कथन प्रत्ययो का विश्लेषण करते हैं, तथ्यात्मक जगत का अभि-कथन नही करते।

7 सबल और निर्बल अर्थों मे जानना

प्रमाणो के गुणात्मक और परिमाणात्मक प्रश्नो पर विचार करने से दो बातें सामने आती हैं—

(क) गुणात्मक दृष्टि से अनौपाधिक प्रमाण ज्ञान का स्वरूप नष्ट करते हैं और औपाधिक प्रमाण अनवस्था दोष उत्पन्न करते हैं।

(ख) परिमाणात्मक दृष्टि से सारे प्रमाण उपलब्ध नही हो सकते और समस्त से कुछ कम प्रमाणो के आधार पर ज्ञान का दावा नही किया जा सकता।

तब क्या हम कुछ नही जानते ? ऐसा कहना उचित नही। व्यावहारिक जीवन म हम जानने का दावा करते हैं। यहा सबल और निबल अर्थों मे जानने म अ तर किया गया है।

व्यावहारिक जीवन म हम जिस अथ म जानन का प्रयोग करते है वह निबल अथ मे जानना होना है। निबल अथ म किसी नान का दावा हम तब करते हैं जब उसे व्यक्त करन वाली प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने की आनुभविक सम्भावना नही होती। कि तु सबल अथ म जब हम नान का दावा करते है तब उस व्यक्त करने वाली प्रतिनप्ति के असत्य होने की तार्किक सम्भावना भी नही होती।

पुन सबल और निबल अथ मे जानने के बीच भेद यह है कि सबल अथ म जब हम जानना शब्द प्रयोग करते हैं तो हम अपने कथन की सत्यता के सम्ब ध म इतने आश्वस्त होते हैं कि हम इस अ वेपण के लिए तैयार भी नही होते कि हमारा कथन सही है या गलत। पर तु इसके विपरीत जब हम जानना शब्द का प्रयोग निबल अथ मे करते हैं ता हम अपने कथन की सत्यता के प्रति अपेक्षाकृत कम आश्वस्त होते है और इसकी सत्यता-असत्यता की जाँच को प्रस्तुत हो जाते हैं।[169]

कहा जाता है कि ज्ञान की दोनो स्थितियो मे निश्चितता रहती है पर इस निश्चितता म मात्रा भेद होता है। सबल अथ म जब हम जानने की बात करते है तो वहा पूर्णत निश्चित रहते हैं और निबल अथ म जानने की बात की जाती है तो वहा अपेक्षाकृत कम निश्चित रहते हैं। कि तु क्या निश्चितता की मात्रा म भेद करना उचित है ? क्याकि किसी स्थिति की सत्यता के विषय म हम या तो निश्चित हो सकते हैं या अनिश्चित। किसी स्थिति की सत्यता के विषय मे लेश मात्र सदेह होने पर हम नही कह सकते कि इस स्थिति की सत्यता के विषय मे हम निश्चित है। वस्तुत इस आधार पर सबल और निबल अर्थों मे ज्ञान का भेद अनुचित है।

यदि सबल और निबल अथ मे ज्ञान का अ तर प्रथम आधार पर स्वीकार किया जाय तब उन प्रतिज्ञप्तियो को सबल अथ म जानने की बात की जा सकती है जिनका

विलोम तकत असम्भव वस्तुस्थिति को व्यक्त करता है, और उन प्रतिज्ञप्तियो को निवल अथ म जानने की बात की जा सकती है जिनका विलोम अनुभवत असम्भव वस्तुस्थिति को व्यक्त करता है। इस प्रकार गणित के सत्य, प्रागनुभविक और इद्रिय प्रदत्त सवल अथ मे जाने जाते हैं। किन्तु क्या तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तिया को सवल अथ मे जान सकते हैं ?

8 तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियो को सवल अर्थ मे जानना

देकात का मत है कि अनुभव के क्षेत्र म वस्तुओ की सत्यता के लिए हमारे पास एक नैतिक आश्वासन हाता है पर इसम तत्व शास्त्रीय अनिवायता का अभाव होता है।[160] लाक का कथन है कि भौतिक वस्तुआ के अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण हमारे अन्त अनुभूतिजन्य ज्ञान की तरह अनिवाय नही होता, यद्यपि यह (भौतिक वस्तुआ के अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण) एक प्रकार का आश्वासन है जो ज्ञान की तरह ही प्रतीत हाता है।[161] कुछ अन्य दाशनिको के अनुसार प्रत्यक्ष से सम्बन्धित सभी निणय सबल नही होते। कुछ दूसरे दाशनिको का कथन है कि सभी अनुभवगम्य वस्तुए निवल प्राक्कल्पनाए मात्र होती हैं।[162]

मालकाम[163] के अनुसार इन सभी वक्तव्यो के मूल मे यही धारणा है कि वतमान अनुभव भविष्य के अनुभवो द्वारा असत्य प्रमाणित किया जा सकता है और इस स्थिति मे सभी अनुभवगम्य वस्तुओ और निणयो के असत्य प्रमाणित हो जाने की सभावना बनी रहती है। परन्तु हर स्थिति म अनुभवगम्य वस्तुओ और निणयो को असत्य प्रमाणित नही किया जा सकता। भौतिक वस्तुओ के सम्ब म कोई निणय असत्य तभी प्रमाणित होता है जब उस निणय का विरोधी निणय सत्य प्रमाणित किया जा सके।[164] यह कथन असत्य प्रमाणित करने के लिए कि 'इस टेबुल ड्राज म पसे हैं,' यह कथन सत्य प्रमाणित करना पडेगा कि 'इस टेबुल के ड्राज म पैसे नही हैं।' इस स्थिति म यह कहना गलत है कि भौतिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे सत्य कथनो की स्थापना हो ही नही सकती। वस्तुत कुछ विशिष्ट परिस्थितियो म अनुभवगम्य और प्रागनुभविक दोनो ही कथन समान लक्षणो से युक्त हो जाते हैं। 2+2=4 और यहा एक दवात है—ये दोनो कथन ही अनिवायत सत्य हैं और इन दानो कथनो के लिए सवल अथ म जानना प्रयोग किया जाएगा।[165]

परन्तु यहा मालकाम जिस अथ मे अनिवायत सत्य' पद का प्रयोग करते हैं वह एयर प्रभति विद्वानो के द्वारा प्रयुक्त अनिवाय पद से कुछ भिन्न हो जाता है। एयर अथवा हॉब्सस ने अनिवायता को परिभाषित करते हुए कहा है कि अनिवायता वह है जो सभी सम्भव जगत म सत्य हो।[166] परन्तु मालकाम इस अथ म निरपेक्ष अनिवाय शब्द प्रयोग नही करते वरना यह स्याही की दवात हैं'—इस कथन के विरोध म 'यह स्याही की दवात नही है' क पदो मे कोई आत्मव्याघात नही है अत यह तार्किक जगत मे असत्य भी हो सकता है। वस्तुत मालकाम का यह कथन कि 'यह स्याही की दवात

हैं'—एक निरपेक्ष अनिवार्य कथन है। एयर प्रभृति विद्वानो की शब्दावली मे इस प्रकार कहा जा सकता है—'यह स्याही की दवात है,' यह अनुभवत सत्य तो हो सकता है किन्तु अनिवार्य नही क्योकि यहा तकत यह सम्भव है कि यह स्याही की दवात न हो अथवा यह स्याही की दवात नही है। इस कथन म कोई स्वतोव्याघात नही है।

पुन मालकाम जब तथ्यात्मक ज्ञान के क्षेत्र मे सवल अथ मे जानना को प्रतिष्ठित करते हैं तो मालकाम का कथन है कि ये सत्य सवल अथ म इसलिए प्रतिष्ठित हैं कि अगर तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति होने के कारण ये सत्य नही जान जा सक्ते तो इसी कारण से इन्ह असत्य भी नही कहा जा सकता क्योकि तब इनकी असत्यता भी असदिग्ध रहेगी और चूकि ये असत्य नही प्रमाणित किय जा सकते अत य सत्य है। वस्तुत मालकाम का यह कथन भी उचित प्रतीत नही होता। क्योकि कोई कथन अगर असत्य प्रमाणित नही होता तो इसका अथ यह नही है कि वह सत्य है। वस्तुत मालकाम जिस आधार पर तथ्यात्मक प्रकथना को सत्य या अनिवायत सत्य प्रमाणित करते हैं उस आधार पर सिफ इतना ही कहा जा सकता है कि चूकि ये तथ्यात्मक कथन हैं और तथ्यात्मक कथनो के सम्बध मे अनिवाय कथन नही किए जा सक्ते। अत इनकी असत्यता भी अनिवाय नही कही जा सक्ती। ये कथन न तो अनिवायत सत्य कहे जा सक्ते हैं और न असत्य। मालकाम के द्वारा प्रस्तुत आधार पर बस इतनी ही बात कही जा सकती है। यह बात कदापि नही कही जा सकती कि तथ्यात्मक कथन अनिवायत सत्य हैं।

(इ) प्रमाण और प्रामाणिकता

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमासा मे प्रमाण सवधी विवेचन के उपरात यह निष्कष दिया जा सकता है कि दोनो परम्परा म दो भिन्न बिन्दुओ पर बल दिया गया है। भारतीय दशन मे प्रमाण विचार का केन्द्र है ज्ञान की उत्पत्ति के विभिन्न साधनो पर विचार करना। यहा प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण प्रमा के उत्स का निर्देश करते हैं। पाश्चात्य दशन म भी ज्ञान के साधन के अथ म प्रत्यक्ष अनुमानादि की चर्चा हुई है किन्तु रसेल, एयर, वूजले और चिज्म के अध्ययन म प्रमाण के जिस अथ को उजागर किया गया है वह निश्चित रूप से एक भिन्न अथ है जिसकी व्याख्या पिछले पष्ठो म की गई है। इनके दशन म प्रमाण ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि ज्ञान की प्रामाणिकता एक अस्पष्ट अभिव्यक्ति है क्योकि जिस प्रमाण से सम्पुष्ट करके इनके अनुसार सत्य विश्वास को ज्ञान की कोटि म स्वीकार किया जा सकता है उसकी परिमाण एव गुण की अनियमितता के कारण प्रमाण का सम्प्रत्यय ही अस्पष्ट है। हमने प्रमाण की परिमाणात्मक और गुणात्मक समस्याओ के लिए विवेचन मे इस दिखलाने का प्रयास किया है।

यदि हम प्रमाण और प्रामाणिक्ता के इस प्रयोग का स्वीकार कर लें तो हम भ्रम, विभ्रम, आदि की व्याख्या कर सकते है। हम प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही भ्रम अथवा विभ्रम होता है पर ये अप्रमा रूप हैं। प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणो के आधार

पर हमे प्रमा और अप्रमा दोनो की प्राप्ति होती है। यहा प्रमा और अप्रमा का अन्तर हम पाश्चात्य विचारको के द्वारा दी गई उपाधियो के आधार पर कर सकते हैं। जिन स्थितियो मे हम इन उपाधियो को सतुष्ट कर पाते हैं वह प्रमा है अर्थात उसमे प्रामाणिकता होती है अन्यथा वह अप्रमा होता है। किन्तु ये उपाधिया पर्याप्त है, यह विवादास्पद है। अगले अध्याय मे हम इस पर विचार करेंगे।

० ०

सन्दर्भ

1 यद्यपि तर्कनिष्ठ अनुभववाद के बाद या लगभग इसी काल मे एक विचारधारा और चली। इसके समर्थकों ने ज्ञानमीमांसा से आगे भी ज्ञानमीमांसीय प्रश्नो की उपादेयता स्वीकार की (सदर्भ फिडले, जे० आर० द्वारा सपादित स्टडीज इन फिलासफी मे पॉपर, के० आर० का निबध आन दि सोर्सेज आफ नालेज एण्ड इगनॉरेंस, पृ० 169 212)

2 देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० 85

3 प्रमा करणम प्रमाणम, वेदान्त परिभाषा, पृ० 8।

4 न्यायवर्तिका तात्पर्य टीका 1/1/1

5 न्यायवर्तिका, 1/1/1

6 'करण' पद की व्याख्या करते हुए पाणिनी ने 'साधकतम करणम' (पाणिनी सूत्र 1/4/42) कहा है अर्थात क्रिया की सिद्धि मे जो सर्वाधिक प्रकृष्ट कार्य करता है, अर्थात साधन, वही प्रमाण है।

7 प्रत्यक्षमेव प्रमाणम।

8 दिग्नाग, प्रमाण समुच्चय 1/2

9 यद्यपि राहुल साकृत्यायन ने लिखा है कि कणाद शब्द या शास्त्र प्रमाण को कहीकही मानते हैं पर इसकी सिद्धि के लिए बहस नही करते। (दर्शन दिग्दर्शन, पृ० 593 594)

10 सांख्यकारिका, 4 पृ० 70

11 न्यायदर्शनम्, 1/1/3

12 राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग 2, पृ० 374।

13 वही, पृ० 374

14 वेदान्त परिभाषा, पृ० 33

15 न्याय सूत्र, 2/2/2

16 न्याय भाषा, पृ० 542
17 हॉस्पस, जॉन, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफिकल एनालिसीस, पृ० 122-141
18 शरवात्सकी बौद्ध न्याय, पृ० 173
19 दत्त, धीरेन्द्र मोहन, दि सिक्सवेज ऑफ नोइंग, पृ 35
20 न्याय बिन्दु, प्रथम अध्याय
21 शेरवात्सकी, बौद्ध न्याय, पृ० 177-190
22 इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नम ज्ञानम् प्रत्यक्षम, न्याय दर्शन 1/1/4
23 प्रशस्तपाद भाष्यम वशेषिक सूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1966, पृ० 153-156
24 श्लोकवर्तिका, 1/1/4
25 ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्,
— न्यायदर्शनम् 1/1/4
26 प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षणम्, तत्व चिंतामणि, पृ० 552।
27 ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम् ।—वही, पृ० 552
28 दत्त धीरेन्द्र मोहन, दि सिक्स वेज ऑफ नोइंग, पृ० 37
29 साक्षात प्रतीति प्रत्यक्षम्
30 शेरवात्सकी, बौद्ध न्याय, पृ० 175
31 मिश्र, वाचस्पति, न्याय तात्पर्य टीका, प्रत्यक्ष प्रकरण
32 तर्करहस्य दीपिका, पृ० 46
33 बालमूकादि विज्ञान सदृश्य निर्विकल्पम, वही, प० 46
34 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नालेज, पृ० 197
35 शास्त्र दीपिका, प० 40
36 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नालेज, पृ० 193
37 तर्कभाषा, प० 49
38 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नालेज, प० 190
39 वेदान्त परिभाषा, पृ० 71
40 न्याय बिन्दु, पृ० 16
41 शेरवात्सकी बौद्धन्याय, पृ० 668
42 प्रमाणवर्तिका, 3/1/25, 127
43 न सो अस्ति प्रत्ययोलोके य शब्दानुगमादृते
अनुबिद्धम इव ज्ञान सवशब्देन भापत ।—भर्तृ हरि, वाक्यदीपिका, 1-124
44 सांकृत्यायन, राहुल, दर्शन दिग्दर्शन, पृ० 759-760
45 जेम्स, विलियम, सायकोलॉजी, भाग II, पृ० 75
46 राधाकृष्णन, सर्वपल्लि, भारतीय दर्शन, भाग-2, पृ० 58
47 वही, प० 58 पर दी गई पाद टिप्पणी संख्या (1)

48 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज, पृ० 193-194
49 तर्कभाषा, पृ० 49
50 वही पृ० 49
51 वेदान्त परिभाषा, पृ० 71
52 वही, पृ० 71
53 वही, पृ० 72
54 शर्मा, ब्रज नारायण, भारतीय दर्शन में अनुमान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973, पृ० 38 (भूमिका से)
55 वही, पृ० 37-38 (भूमिका से)
56 वही, पृ० 15
57 न्यायसूत्र, 1/1/5
58 न्याय दर्शनम्, वात्स्यायन भाष्य, पृ० 33
59 वही, पृ० 35
60 तत्व चिन्तामणि, भाग 2, पृ० 2
61 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज, पृ० 233
62 वही, पृ० 233
63 न्यायबिन्दु, द्वितीय अध्याय।
64 स्वामी सत्यप्रकाशानन्द, मेथडस आफ नालेज, पृ० 143
65 वेदान्त परिभाषा, पृ० 146
66 न्याय दर्शनम, वात्स्यायन भाष्य, पृ० 33 34
67 न्याय बिन्दु, धर्मोत्तर की टीका, द्वितीय अध्याय
68 वही, पृ० 151
69 कमलशील, तत्वसंग्रह, भाग 1, पृ० 494
70 शरवात्सकी, बौद्ध न्याय, पृ० 276
71 वही, पृ० 334
72 वही, पृ० 320
73 न्याय बिन्दु, पृ० 31
74 स्वामी सत्य प्रकाशानन्द, मेथडस आफ नालेज, पृ० 149
75 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज, पृ० 243
76 सील, ब्रजेन्द्रनाथ, पॉजीटिव साइंसेज आफ इण्डिया, पृ० 273-274
77 चटर्जी सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज, पृ० 246-247
78 सा च व्यभिचारादर्शने सति सहचारदर्शनेन गृहीत, वेदान्त परिभाषा, पृ० 146
79 सर्वदर्शन संग्रह, प्रथम अध्याय।
80 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नालेज पृ० 244
81 एयर,ए०जे०, दि सेन्ट्रल क्वेश्चंस आफ फिलासफी, पेंगुइन बुक्स, 1976, पृ० 138

82 वही, पृ० 140
83 वही, पृ० 163-174
84 हॉस्पर्स, जॉन, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफिकल एनालिसिस, पृ० 259।
85 वही, पृ० 257
86 दत्त, धीरेन्द्र मोहन, दि सिक्स वेज ऑफ नोइंग, पृ० 249
87 स्वामी सत्प्रकाशानन्द, मेथड्स ऑफ नॉलेज, पृ० 174
88 दत्त, धीरेन्द्र मोहन, दि सिक्स वेज ऑफ नोइंग, पृ० 249
89 आप्तोपदेश शब्द । न्याय दर्शनम् पृ० 39
90 आप्तवाक्य शब्द । तर्कभाषा, पृ० 108
91 पुरुष विशेषो ईश्वर
92 श्लोकवर्तिका, 21, 51
93 वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद
94 वही, पृ० 170
95 वही, प० 236
96 वही, पृ० 237
97 वही, पृ० 237
98 शास्त्रदीपिका, पृ० 72
99 तर्कभाषा, प० 112
100 स्वामी सत्यप्रकाशानन्द, मेथड्स आफ नालेज, पृ० 176
101 वही, पृ० 153
102 न्यायदर्शनम्, वात्स्यायन भाष्य, पृ० 198-200
103 वेदान्त परिभाषा, पृ० 163
104 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज, पृ० 302
105 स नेति सता सम्बन्ध, वात्स्यायन भाष्य, न्याय दर्शनम्, पृ० 38
106 स्वामी सत्यप्रकाशानन्द, मेथड्स आफ नालेज, पृ० 154
107 प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ० 100
108 वेदान्त परिभाषा, उपमान प्रकरण।
109 कुमारिल भट्ट, श्लोकवर्तिका
110 वेदान्त परिभाषा, अर्थापत्ति परिच्छेद।
111 अर्थापत्तिरपि दृष्टत श्रुतो वार्थोऽयथानापद्यते इत्यर्थकल्पना, शबर भाष्य, 1-1 5
112 तत्रोप्रधानानेनोपादक कल्पनर्थापत्ति वेदान्त परिभाषा, प० 246
113 अर्थापत्तिर्द्विविधा, वेदान्त परिभाषा, पृ० 248
114 वही, पृ० 250
115 साङ्ख्यकारिका-5
116 दत्त, धीरेन्द्र मोहन, दि सिक्स वेज आफ नोइंग, पृ० 240 241

117 तकभापा, प० 115 116
118 वेदान्त परिभापा, पृ० 311 313
119 तकभापा, प० 115
120 दत्त, डी० एम०, *दि सिक्स वेज आफ नोईग, पृ० 238*
121 वही, 247
122 वेदान्त परिभापा, पृ० 246
123 तकभापा, पृ० 117
124 वही, अभाव निरूपणम्
125 वही, पृ० 124-125
126 स्वामी, सत्यप्रकाशानन्द, मेथडस ऑफ नॉलेज, पृ० 167
127 दत्त, धीरेन्द्र मोहन, *दि सिक्स वेज आफ नोईग, पृ० 199*
128 रसेल, बी० ह्यूमैन नालेज इटस स्कोप एण्ड लिमिटस, पृ० 171
129 वही, पृ० 171
130 वही, पृ० 171
131 एयर ए० जे०, दि प्रोब्लेम्स ऑफ नालेज, पृ० 35
132 वही, पृ० 31
133 वही, पृ० 35
134 वही, पृ० 34
135 वही, पृ० 32
136 वही, पृ० 34
137 वही, पृ० 34
138 वही, पृ० 31 32
139 वही, पृ० 32
140 बूजल, ए० डी०, ज्ञानमीमांसा परिचय, पृ० 202
141 वही, पृ० 204
142 वही, पृ० 202
143 चिजम, आर० एम०, 'दि थ्योरी ऑफ नॉलिज, पृ 109
144 वही, पृ० 17
145 वही, पृ० 18
146 वही, प० 19
147 वही, पृ० 22
148 वही, पृ० 22
149 वही, प० 23
150 वही, प० 63
151 वही, पृ० 109

152 हॉस्पर्स, जॉन, 'एन इ ट्रोडक्सन टू फिलॉसफिकल एनालिसिस', पृ० 147-148
153 डेविड व्रेन, 'दि नेचर ऑफ नालेज, प्रोसिडिंग्स ऑफ एरिस्टोटलियन' सोसाइटी, न्यू सीरिज, वाल्यूम 62, पृ० 42
154 हॉस्पर्स जॉन, दार्शनिक विश्लेषण, परिचय, पृ० 231
155 प्राइस, एच० एच०, पर्सेप्सन, पृ० 3
156 एयर ए० जे०, प्रोब्लेम्स ऑफ नॉलेज, पृ० 71
157 वही, पृ० 75-81
158 हास्पर्स, जान, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, पृ० 797
159 नॉलेज एण्ड सर्टेनिटि, नॉमन मालकॉम, पृ० 64
160 देकात डीसकोस आन मेथड, भाग 5
161 लाक, एन ऐसे कर्सानग ह्यूमैन अण्डरस्टैंडिंग, अध्याय-11 खण्ड 3
162 एयर, ए० जे०, लेंग्वेज ट्रुथ एण्ड लाजिक, प० 124
163 मालकाम नार्मन, नॉलेज एण्ड सर्टेनटि, पृ० 65
164 वही, प० 69
165 वही, पृ० 70
166 हास्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, प० 262

० ०

6

ज्ञानमीमांसीय सम्प्रत्यय और ज्ञान का स्वरूप

(अ) ज्ञानमीमांसीय सम्प्रत्यय

पिछले अध्यायों में हम लोगों ने भारतीय और पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन की पृष्ठभूमि में प्रमुख ज्ञानमीमांसीय सम्प्रत्ययों का अध्ययन किया है। इसके आधार पर हम यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि दोनों परम्पराओं में देश और काल के व्यवधान के बाद भी ज्ञानमीमांसीय चिन्तन के आयामों में कोई व्यापक अन्तर नहीं है। प्रथम अध्याय में भारतीय दार्शनिकों के अनुसार प्रमा की उपाधियों की चर्चा की गई है। इसके क्रम में मुख्यतः हमने निम्नलिखित सम्प्रत्ययों का विश्लेषण किया है—

(1) यथार्थत्व,
(2) अनधिगतत्व,
(3) असंदिग्धत्व,
(4) कारणदोष दोषरहितत्व, और
(5) अबाधितत्व।

दूसरी ओर हमने पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार जानने की उपाधियों की व्याख्या के आधार में इन तीन सम्प्रत्ययों का विश्लेषण किया गया है—

(1) सत्यता,
(2) विश्वास, और
(3) प्रमाण।

इन दो दर्शनों की तुलना में हमने देखा है कि भारतीय दर्शन के यथार्थत्व तथा पाश्चात्य दर्शन की सत्यता के सम्प्रत्यय अक्षरशः एक न होते हुए भी समरूप हैं। पाश्चात्य दर्शन का सत्यता सम्बन्धी अतः अनुभूतिवाद भारतीय स्वतः प्रामाण्यवाद के समकक्ष तथा पाश्चात्य दर्शन का संसक्तता सिद्धान्त, संवाद सिद्धान्त, और उपयोगितावादी सिद्धान्त भारतीय दर्शन में परतः प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत वर्णित श्रम, नानान्तर संवाद, संगेयका संवाद सिद्धान्त तथा प्रवृत्ति सामर्थ्य के समकक्ष हैं। पुनः भारतीय दर्शन में अबाधितत्व का सम्प्रत्यय वेदान्त दर्शन में उपलब्ध है। प्रमा की यथार्थता की व्याख्या के लिए वे उसे

अबाधित होने की माग करते हैं। उनके अनुसार किसी ज्ञान के अबाधित होने का अर्थ है कि वह सभी प्रकार के विरोध और असत्यता से परे है। अत अबाधित्व का सम्प्रत्यय सत्यता के सम्प्रत्यय की ही कोटि का है। इसी भाँति भारतीय दर्शन मे जब प्रमा को सशय से मुक्त या असदिग्ध ज्ञान कहा जाता है तो हम पाश्चात्य दर्शन मे बतायी ज्ञान की दूसरी उपाधि विश्वास से इसकी तुलना कर सकते हैं। हमने तृतीय अध्याय मे देखा कि यद्यपि विश्वास और सशय का अभाव सदैव एक ही नही है किन्तु जब सशय का अभाव विश्वास की चरमस्थिति की ओर सकेत करता है तो यह विश्वास से अभिन्न होता है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन मे तथा पाश्चात्य दर्शन मे बताया गया सशय का अभाव तथा विश्वास एक ही है। पुन तृतीय उपाधि के रूप मे पाश्चात्य दार्शनिक प्रमाण की समस्या उठाता है। भारतीय दार्शनिक प्रमा के लिए कारण बोध दोष रहितत्व की चर्चा करता है यहा प्रमा के कारण का अर्थ प्रमाण है तथा बाधदोष रहित्व का अर्थ इसका उचित होना है। यह भी पाश्चात्य दर्शन की प्रमाण की माग जैसी है। किन्तु हमने पचम अध्याय मे देखा कि पाश्चात्य और भारतीय दर्शन म प्रमाण की सख्या के सम्बन्ध मे तो भेद है ही, प्रमाण सम्बन्धी समस्याएँ भी दोनो दर्शनो म भिन्न प्रकार से उठायी गयी है।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य दर्शन मे ज्ञान के स्वरूप के सबध मे अनधिगतत्व के सम्प्रत्यय को छोडकर शेष अन्य सम्प्रत्ययो मे किसी न किसी भारतीय ज्ञानमीमासात्मक सम्प्रत्यय से पाश्चात्य ज्ञानमीमासात्मक सम्प्रत्यय का साम्य स्थापित हो सकता है। ज्ञान के अनधिगतत्व को पाश्चात्य दर्शन मे व्यवहृत आनुभविकता के सप्रत्यय के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

(I) अनधिगत ज्ञान और आनुभविक प्रतिज्ञप्तिया भारतीय दार्शनिक जब प्रमा के लिये अनधिगतत्व की बात करते हैं तो प्रकारान्तर से आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो के ज्ञान की बात करते हैं। तथापि आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो के ज्ञान और अनधिगत ज्ञान मे भेद है वस्तुत भारतीय दार्शनिको के अनुसार अनधिगत ज्ञान आनुभविक ज्ञान तो है किन्तु समस्त आनुभविक ज्ञान अनाधिगत ज्ञान नही। अत हम यह देखेंगे कि आनुभविक ज्ञान कहाँ तक और किन अर्थों मे अनधिगत है।

भारतीय दार्शनिक आनुभविक ज्ञान की चर्चा नही करता। किन्तु यहा लौकिक और पारलौकिक या पारमार्थिक ज्ञान की चर्चा ग्रन्थो म मिलती है। लौकिक ज्ञान या अपरा विद्या को भी आनुभविक ज्ञान का पर्यायवाची नही कहा जा सकता क्योंकि 'काली बिल्ली काली है' जैसे प्रागनुभविक और विश्लेषी प्रतिज्ञप्तिया को पाश्चात्य दार्शनिक आनुभविक ज्ञान की सीमा के बाहर रखते हैं। किन्तु भारतीय दार्शनिक लौकिक वस्तुओ का अभिकथन करने वाली इन प्रतिज्ञप्तियो को लौकिक ज्ञान की कोटि म रखेंगे। समस्त प्रागनुभविक तथा विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ अपरा विद्या की कोटि से भी वचित नही रह पातीं क्योंकि शब्दबद्ध होने के साथ ही ज्ञान भारतीय मतानुसार अपरा विद्या की कोटि मे आ सकता है।

परा विद्या मन वाणी से परे ब्रह्म ज्ञान है, वह समस्त अभिव्यक्तियो से परे है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शनोक्त सभी प्रागनुभविक और उत्तरानुभविक तथा सश्लेपी और विश्लेपी प्रतिनप्तियाँ परा विद्या की कोटि स परे हैं तथा अपरा विद्या की कोटि म हैं। किन्तु अपरा विद्या और आनुभविक ज्ञान पर्यायवाची नही। अपरा विद्या की सीमा आनुभविक ज्ञान से अधिक विस्तत है। पाश्चात्य दार्शनिक तत्वमीमासा को आनुभविक ज्ञान की सीमा मे नही रखता। अत आनुभविक ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान से सवथा भिन्न है। यह लौकिक ज्ञान की कोटि मे तो आता है किन्तु लौकिक ज्ञान का क्षेत्र आनुभविक ज्ञान से अधिक विस्तत है।

आनुभविक ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नही समझना चाहिए। पाश्चात्य दर्शन म आनुभविक ज्ञान का अथ है वह ज्ञान जिसका सत्यापन अनुभव के द्वारा किया जा सके। भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष को इस अथ म स्वीकार नही करता। अनुभव के द्वारा ज्ञान के सत्यापन के लिए अन्ततोगत्वा इन्द्रियो की आवश्यकता होती है, किन्तु इस अथ म आनुभविक ज्ञान को इन्द्रियानुभविक ज्ञान कहा जाना चाहिये। किन्तु भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियो को अनिवाय नही कहता। यहा प्रत्यक्ष को साक्षात ज्ञान के रूप मे परिभाषित किया गया है। पुन भारतीय दार्शनिक अनुभूति को भी अनिवायत इन्द्रियानुभूति से नही जोडता। ब्रह्म का ज्ञान अनुभूति के द्वारा होता है किन्तु यह अनुभूति इन्द्रियो से परे है।

द्वितीयत, पाश्चात्य दार्शनिक जब आनुभविक ज्ञान के सत्यापित होने की माग करता है तो आनुभविक ज्ञान की सीमा म वे सभी ज्ञान आ जाते हैं जो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि अन्य पाच प्रमाणो से प्राप्त होते हैं क्योकि इन सभी की जाच इन्द्रियानुभव से की जा सकती है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिको ने जिस अथ म प्रत्यक्ष ज्ञान को स्वीकार किया है वह पाश्चात्य दार्शनिको द्वारा प्रयुक्त आनुभविक ज्ञान से भिन्न है। किन्तु पाश्चात्य दर्शन म आनुभविक ज्ञान तथा भारतीय दर्शन मे अनधिगत ज्ञान के सम्प्रत्ययो की अधिक स्पष्टता के लिए हम इन दोनो दर्शनो की क्रमश आनुभविक प्रतिज्ञप्तियो तथा अनधिगत ज्ञान सबधी विचार का उल्लेख करेंगे।

(क) आनुभविक प्रतिज्ञप्तिया पाश्चात्य ज्ञानमीमासा की चर्चा करते हुए आनुभविक प्रतिनप्तियो का विश्लेषण आवश्यक इसलिए है कि रसेल, एयर वूजले और विजम प्रभति दार्शनिको की प्रतिबद्धता आनुभविक प्रतिनप्तियो के ज्ञान के विश्लेषण स ही है। जिन प्रतिनप्तियो की सत्यता या असत्यता की जानकारी अनुभव के आधार पर होती है वे अनुभविक प्रतिनप्तिया कहलाती हैं। इन प्रतिनप्तियो की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) ये प्रतिनप्तियाँ अनिवायत सश्लेषी होती हैं।

(2) यद्यपि सश्लेपी प्रतिनप्तियो की परिभाषा आनुभविक प्रतिनप्तियो भिन्न है तथा सश्लेपी और आनुभविक पद पर्यायवाची नही हैं तथापि सश्लेपी प्रतिनप्तियो की भाति आनुभविक प्रतिनप्तियो के बारे म भी कहा जा सकता

है कि आनुभविक प्रतिज्ञप्तिया तकत अनिवाय नही होती अर्थात इनके निषे ध से न तो कोई स्वतोव्याघात होता है और न ही इनको सत्य स्वीकार करनेका अथ यह है कि यह सत्यता प्रत्यक देश काल के लिए स्वीकार की जा रही है। (ख) अनधिगत ज्ञान जब भारतीय दार्शनिक प्रमा की अनिवाय उपाधि अनधिगतत्व बताते हैं तो अनधिगतत्व का अथ है किसी ज्ञान का अधिगत नही होना। इस अथ मे नवीनता को प्रमा की उपाधि बतलाया गया है। ज्ञान को नवीन कहने का क्या अथ है? आधुनिक पाश्चात्य दशन म अनुभववाद के जनक लाक ने भी ज्ञा न की सावभौमता और अनिवायता की अपेक्षा ज्ञान की नवीनता पर बल दिया। लाक ने ज्ञान के दो भेद बताये—धाराणात्मक और तथ्यात्मक। लाक क अनुसार तथ्यात्मक ज्ञान प्रत्ययो के सश्लेषण से बनता है अत यह नान नवीन होता है। लाक की इस स्वीकारोक्ति से ऐसा लगता है कि लाक नवीन ज्ञान का अथ सश्लेषणात्मक ज्ञान लगाते थे। कि तु भारतीय दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियो मे विश्लेषी और सश्लेषी का भेद नही करत। उनके लिए ज्ञान की नवीनता का अथ है नान का पूर्वार्जित न होना।

ज्ञान के पूर्वार्जित न होन को ज्ञान के पूर्वानुभव पर आधारित न होने से नही उलझना चाहिए। वस्तुत कोई भी ज्ञान पूर्वानुभव स सवथा शू य नही हो सकता। कि तु पूर्वानुभव पर आधारित अनेक नान ऐसे होते हैं जो पूवज्ञात नहीं होते। जसे, यह टेबुल है, यह ज्ञान पूवानुभव पर आधारित अवश्य है पर तु जिस प्रथम क्षण मे यह टेबुल है का ज्ञान होता है उस क्षण म यह ज्ञान पूवज्ञात नही रहता।

अनधिगतत्व को प्रमा का अनिवाय गुण स्वीकार करन से दो समस्याए उठती हैं—

(i) क्या स्मृति प्रमा है?

(ii) क्या धारावाहिक प्रत्यक्ष प्रमा है।

इन दो प्रश्नो का विवेचन हम प्रथम अध्याय मे ही कर आए हैं। यहा हम अनधिगतत्व के सप्रत्यय को और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। निम्नलिखित दोनो प्रकार के नान अनधिगतत्व की सीमा से बाहर हैं।

विश्लेषी प्रतिज्ञप्तिया 'काली बिल्ली काली है' यह ज्ञान अनधिगत नही है *क्योकि यहाँ विधेय उद्देश्य से सबधित कोई नयी बात नही करता, मात्र उसे दुहराता है।* काली बिल्ली के विषय मे अ य कुछ नान अनधिगत भले हो कि तु काली बिल्ली के कालेपन का नान काली बिल्ली सम्प्रत्यय म निहित है।

प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तिया प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तिया भी नवीन नही होती क्योकि सभी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तिया विश्लेषी होती है। अत प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तिया की सत्यता का निधारण बाह्य जगत के अनुभव पर आधारित नही होता।

इस प्रकार ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिक जिसे अनधिगत नान कहना

है वह पाश्चात्य दर्शन के आनुभविक ज्ञान की धारणा को अपने आप मे समाहित करता है किन्तु आनुभविक ज्ञान तथा अनधिगत ज्ञान म भेद है। इसे एक उदाहरण म समझा जा सकता है। मान लें कि 'क' भौतिकशास्त्र की एक पुस्तक उलटता है और पाता है कि इस पुस्तक मे न्यूटन का सापेक्षता सिद्धान्त पृष्ठ सख्या एक सौ दस पर दिया गया है इस समय 'क' का यह ज्ञान कि न्यूटन का सापेक्षता सिद्धान्त इस पुस्तक के एक सौ दसवें पृष्ठ पर दिया गया है, अनधिगत है और आनुभविक भी। पुन कुछ समय बाद वही पुस्तक उठाता है और पृष्ठ सख्या एक सौ दस पर न्यूटन का सापेक्षता सिद्धान्त देखता है। अब उसका यह ज्ञान आनुभविक तो है परन्तु अनधिगत नही। इस प्रकार अनधिगतत्व और आनुभविक ज्ञान के सम्प्रत्यय परस्पर भिन्न होते हुए भी सर्वथा अभिन्न नही है। प्रागनुभविक तथा विश्लेषी ज्ञान न तो अनधिगत है और न आनुभविक। किन्तु समस्त सश्लेषी प्रतिज्ञप्तिया आनुभविक तो है पर समस्त सश्लेषी और आनुभविक प्रतिज्ञप्तिया अनधिगत नही है।

(आ) ज्ञान का स्वरूप

इस प्रकार हम पाते हैं कि पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध मे वैचारिक भेद उतना महत नही है, तथापि भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमासा के समानान्तर पक्षो को परस्पर अनूदित नही किया जाना चाहिए क्योकि देश काल के भेद के अनुरूप इनके ज्ञानमीमासा की शैली और प्रश्नो के मूल उदगम तथा उद्देश्य म भेद है।

भारतीय तथा पाश्चात्य ज्ञानमीमासक ज्ञानमीमासा का प्रारम्भ ही भिन्न उद्देश्यो के साथ करते है। भारतीय दर्शन मे ज्ञानमीमासा तत्वमीमासा का साधन है। यहा प्रमा के द्वारा तत्वबोध होता है और तत्वबोध से मुक्ति। इसी अर्थ म कहा गया 'ऋते ज्ञाना न मुक्ति'। किन्तु पाश्चात्य ज्ञानमीमासा का जो खण्ड हमारे विवेचन का विषय है, तत्वमीमासा के निराकरण के बाद आया है। यहा मानव ज्ञान की सीमा को आनुभविक ज्ञान तक सीमित कर तत्वमीमासा को निरर्थक घोषित किया गया है तथा ज्ञानमीमासा को स्वत साध्य बतलाया गया है।

ज्ञानमीमासा की सीमाओ म भी भेद है। पाश्चात्य अनुभववाद ज्ञान की अनुभावेत्तर सीमाओ का निषेध करता है। किन्तु भारतीय दार्शनिक ज्ञान की सीमा म पारमार्थिक ज्ञान को भी रखता है। ज्ञान का चरम उद्देश्य ब्रह्म ज्ञान है और अपने चरम रूप म ज्ञान ही ब्रह्म है। यहा ध्यातव्य है कि पाश्चात्य बुद्धिवादी भी पारमार्थिक ज्ञान को असभव नही कहता। देकार्त प्रभृति बुद्धिवादियो ने अन्त अनुभूति के द्वारा ईश्वर के ज्ञान की बात की। तब भी पाश्चात्य और भारतीय ज्ञानमीमासा की सीमाओ म इतना भेद अवश्य है कि भौतिकवादी चार्वाक के अतिरिक्त यहाँ कोई भी दार्शनिक इस विशुद्ध अर्थ म अनुभववादी नहा है कि अनुभव के पूर्व और परे ज्ञान नही और न यहा कोई भी दार्शनिक इस विशुद्ध-अर्थ म बुद्धिवादी है जो समस्त आनुभविक ज्ञान की महत्ता नकार

दे। अद्वत वेदान्ती यद्यपि पारमार्थिक अथ मे समस्त जगत को मिथ्या कहते हैं कि तु घटादि के ज्ञान को स्वप्नवत मिथ्या अथवा भ्रामक नही कहते। वेदा तियो के अनुसार इस अनुभविक जगत की भी सत्ता है (प्रातिभासिक सत्ता) और यह आनुभविक जगत का प्रत्येक ज्ञान जो अनधिगत और अबाधित है, प्रमा रूप है। पाश्चात्य दशन की यह विशेषता है कि वहा जो जितना प्रखर अनुभववादी है अनुभवेत्तर ज्ञान को उतना बलपूवक नकारता है तथा जो जितना प्रबल बुद्धिवादी है आनुभविक ज्ञान को उतनी ही प्रचण्डता से अस्वीकार करता है। पाश्चात्य जगत म काट इन दोनो परम्पराओ के विरोधी हैं। वे अनुभव और बुद्धि का सम वय स्थापित करते हैं। दूसरी ओर भारतीय दशन की विचित्रता इसम है कि यहाँ न कोई प्रचण्ड बुद्धिवादी है न कट्टर अनुभववादी (चावाक इसके अपवाद हैं)। यहा का प्रत्येक दाशनिक आनुभविक ज्ञान की शुद्धता पर बल देता है आनुभविक ज्ञान की शुद्धता के प्रति कटिबद्धता ही मानव को सम्यक दष्टि दती है पारमार्थिक सत्यो का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार भारतीय ज्ञानमीमासा मे आनु' भविक और अनुभवेतर ज्ञान का अदभुत सम वय देखने को मिलता है।

भारतीय दाशनिक प्रमा के तीन सघटक तत्व बताता है—प्रमाती, प्रमेय और प्रमाण। कुछ भारतीय ज्ञानमीमासका के मतानुसार प्रमा प्रमाता और प्रमेय के बीच का सम्ब ध है तथा प्रमाण इन सम्बन्ध को स्थापित करने वाला माध्यम है। कि तु सभी दाशनिक प्रमा को ज्ञाता और ज्ञेय के सम्ब ध के द्वारा उत्प न नही मानते साख्य, वदा त और जैन आत्मा को चत य स्वरूप मानते हैं। फलत उनके अनुसार प्रमा प्रमेय (ज्ञेय वस्तु) तथा चैत य स्वरूप प्रमाता (ज्ञाता) के बीच स्थ यी सबध है। साख्य वदा त और जन मतानुसार आत्मा की चेतना निरक्षेप है। ज्ञेय या प्रमेय के उपस्थित नही होने पर भी आत्मा का चैत य स्वरूप तिरोहित नही होता। इसके विपरीत मीमासा तथा याय वैशेषिक चैत य को आत्मा का आग तुक लक्षण कहते है। उनके अनुसार जब ज्ञेय वस्तु से आत्मा का सम्पक होता है तभी चेतना अथवा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी भाति बौद्ध चेतना को कि ही विशिष्ट परिस्थितियो मे आत्मा के भीतर उत्प न मानते हैं। बौद्ध मतानुसार यह उत्प न चेतना भी स्थायी नही, क्षणिक है। साख्य, योग और वेदा त दो प्रकार की चेतना का भेद करते हैं—स्वरूप चैत य तथा वृत्ति चत य। स्वरूप चत य आत्मा चत य स्वरूप है। इस रूप मे आत्मा स्थायी ज्ञान है। वत्ति चत य लौकिक ज्ञान की व्याख्या प्रस्तुत करता है, जसे पीत वस्तु के सम्पर्क म आने पर पीत वस्तु का ज्ञान उपस्थित होता है और वस्तु के हट जाने पर पीत वस्तु की चेतना लुप्त हो जाती है। इस प्रकार वृत्ति चैत य से आनुभविक ज्ञान की व्याख्या होती है। तथापि साख्य और वेदा त ज्ञानमीमासा मे एक मौलिक भेद यह है कि जहा साख्य ज्ञाता और ज्ञेय का भेद पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है वहा वेदान्त ज्ञानमीमासा म पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय अद्वत है। वेदा त ज्ञानमीमासा म अपने चरम रूप मे आत्मा अथवा ब्रह्म ही ज्ञाता, और ज्ञान सब है। इस प्रकार वेदा त मतानुसार ज्ञाता और ज्ञेय के बीच का सबध बाह्य नही और न यह सबध शाश्वत द्वत का है।

पाश्चात्य दशन मे रसेल भी नान को मन और वाह्य जगत के बीच का सम्बध मानते हैं।[1] रसेल के दशन मे मन ज्ञाता है तथा वस्तु ज्ञेय। किन्तु रसेल नान की उत्पत्ति की व्याख्या जिस प्रकार के सम्ब ध के द्वारा करते हैं वह सम्बध सांख्यो और वेदान्तियो के सम्बध से भिन्न है। साम्ख्य जहा ज्ञान को द्वैत का सम्बध कहता है (ज्ञाता और ज्ञेय के बीच का द्वैत) तथा वेदान्ती जिस सम्बध की व्याख्या द्वैत के द्वारा करता है रसल उसे बहुगुण सम्ब ध (मलटीपुलरिलेशन) कहते हैं। रसेल के अनुसार यह सम्बध मन, वस्तु तथा प्रतिज्ञप्ति के बीच का सम्ब ध है।

वस्तुत ज्ञान को इस प्रकार सम्बध के रूप म परिभाषित करने वाले सिद्धान्त नान के सम्ब ध-सिद्धा त (रिलेशन थ्योरी ऑफ नालेज) के अन्तगत रखे जाते हैं। ज्ञान को परिभाषित करने के लिय मुख्यत चार निम्नलिखित सिद्धान्त दिये गये हैं—

1 ज्ञान द्रव्य है।
2 ज्ञान गुण है।
3 ज्ञान क्रिया है।
4 ज्ञान सम्बध है।

1 ज्ञान द्रव्य है—इस मत के समयक वेदान्ती और साख्य है। जिनके अनुसार आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान को द्रव्य कहने का अथ यह नही है कि यह पुरुष अथवा ब्रह्म अथवा आत्मा से भिन्न कोई पदाथ है वरन पुरुष अथवा ब्रह्म अथवा आत्मा स्वत ज्ञान स्वरूप है।

2 ज्ञान गुण है—नैयायिक ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक लक्षण कहते है। नयायिको के अनुसार ज्ञान द्रव्य नही हो सकता क्योकि यह किसी को उत्पन्न नही कर सकता। नयायिको क अनुसार ज्ञान गुण है और यह गुण किसी नैतिक वस्तु का नही है और न यह अन्य भौतिक गुणो की तरह है।[2] नान आत्मा का गुण है। रामानुजाचाय के अनुसार नान आत्मा का अनिवाय लक्षण है। पाश्चात्य जगत मे बुद्धिवादी देकात इसी मत के समथक हैं। देकान के अनुसार विस्तार जड का तथा विचार आत्मा का गुण है।

यहा नयायिक, वशेषिक, रामानुज या देकात जब नान को गुण के रूप म परिभाषित करते हैं तो वे नान अथवा चेतना अथवा विचार को व्यापक अथ मे प्रयोग करते हैं। देकात विचार अथवा चिंतन के अन्तगत समस्त चेतन क्रियाओ को रखते हैं जिनम जानना अथवा प्रमा भी है। भारतीय दाशनिक भी ज्ञान क अन्तगत प्रमा अप्रमा दोनो को रखत हैं।

3 *ज्ञान क्रिया है*—*साधारणत यह समझा जाता है कि ज्ञान न द्रव्य है* और न गुण वरन यह क्रिया है। बौद्ध[3] तथा भाट्ट मीमासक[4] ज्ञान को सकमक क्रिया समझते हैं। पाश्चात्य जगत म वगसा, काट, स्पेंसर भी इसी मत के समथक हैं।[5]

किन्तु नयायिक इस मत का खण्डन करते हैं कि नान क्रिया है। नयायिको क अनुसार नान को क्रिया समझने की भूल, भाषा म नान शब्द क प्रयोग क कारण होती है। नैयायिको के अनुसार भाषा म नान को सकमक क्रिया की तरह लिया जाता है। इसक

ऐसा भ्रम होता है कि नान क्रिया है। एयर भी ज्ञान को क्रिया के अथ म अस्वीकार करते हैं। एयर के अनुसार नान यदि क्रिया होती तो हम आसानी से पूछ सकते हैं कि यह किस देश काल म सम्पादित होती है। किन्तु हम जब भी किसी तथ्य को जानते हैं काल के किसी विशेष खण्ड म नही जानते।

4 ज्ञान सम्बन्ध है—ज्ञान को बहुधा सम्बन्ध के रूप म परिभाषित किया जाता है। पाश्चात्य जगत म रसेल इसी मत के समथक हैं। मूर तथा ब्रॉड ने भी स्वीकार किया है कि नान इन्द्रिय दत्त तया लक्षणो के बीच का सम्बन्ध है।[6]

भारतीय दशन म भी जैसाकि हम देख चुके हैं प्रमा को प्रमाता तथा प्रमेय के बीच के सम्बन्ध के रूप मे समझने की चेष्टा की गई है। किन्तु इसे सम्बन्ध सिद्धान्त नही समझना चाहिए। भारतीय दशन म ज्ञान का मुख्यत द्रव्य गुण और क्रिया के रूप म परिभाषित किया गया है। भारतीय दाशनिक जब यह कहते हैं कि प्रमाता और प्रमेय के बीच सम्बन्ध स्थापित होन पर प्रमा उदित होता है तो वे मात्र प्रमा की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। वस्तुत कोई भी नान किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? और उस ज्ञान का स्वरूप कसा है ? ये दोनो दो प्रश्न हैं। भारतीय दाशनिक जब ज्ञान को ज्ञाता और नेय के बीच सम्बन्ध स्थापित होने पर उत्पन्न कहत हैं तो यहा व्याख्या ज्ञान की उत्पत्ति की होती है तथा जब नान को क्रिया अथवा द्रव्य अथवा गुण के रूप मे परिभाषित करते ह तो व यह बताते हैं कि नान स्वरूप कैसा है।[7]

(क) ज्ञान की उपाधियों की पर्याप्तता की परीक्षा—अपनी अब तक की विवचना म हमने पाया कि भारतीय दाशनिक प्रमा को जितनी भी पयाप्त और अनिवाय उपाधिया बताता है वे दोष मुक्त नही हैं। पाश्चात्य दशन मे भी हमने देखा कि नान की उपाधिया नान के स्वरूप को ठीक ठीक स्पष्ट नही कर पाती। यहा यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि जानन की ये तीन उपाधिया पर्याप्त नही है।

एडमण्ड एल० गेटियर ने अपन लेख इज जस्टिफायड ट्रू बिलीफ नालेज?[8] म यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि प की सत्यता म विश्वास अगर प्रामाणिक है तब भी स्थिति जानने की नही हो सकती है। उसी आधार पर उन्होने चिज्म के इस मत का कि प के लिय उचित प्रमाण चाहिए[9] तथा एयर के इस मत का कि प की सत्यता के प्रति विश्वास अधिकृत होना चाहिए[10] का खण्डन किया है। इसके लिये उन्होने दो ऐसी प्रतिनप्तिया प्रस्तुत की हैं जो गेटियर के अनुसार जानने की तीनो शर्तों को पूरा करती है तथापि वे जानने की स्थितिया नही हैं।

प्रथम उदाहरण—स्मिथ और जॉन दो मित्र है जिन्होने एक ही नौकरी के लिये आवदन पत्र दिया है। जान क पास निम्नलिखित प्रतिनप्ति के लिये सबल प्रमाण है—(क) जान ही वह व्यक्ति है जिसे नौकरी मिलेगी और जान के पाकेट म दस सिक्के हैं।

प्रतिज्ञप्ति (क) मे विश्वास करने के लिये उसके पास प्रमाण यह है कि (ख) स्मिथ स उस कम्पनी के सर्वोच्च पदाधिकारी ने कहा है कि अन्तत इस नौकरी के लिये जान ही चुना जाएगा और स्मिथ ने अभी थोडी देर पहले जान के पाकेट म हाथ डालकर

उसके सिक्के गिने हैं कि जॉन के पाकेट मे दस सिक्के हैं। अब, (क) के आधार पर ज्ञान यह जानने का दावा कर सकता है कि—(ग) वह व्यक्ति जिसके पॉकेट मे दस सिक्के हैं, नौकरी प्राप्त करेगा।

किन्तु अन्तत स्थिति बदल जाती है। यद्यपि कि स्मिथ इससे अनभिज्ञ था, स्मिथ के अपने पाकेट मे भी दस सिक्के थे और अन्तत वह नौकरी भी जॉन को न मिल कर स्मिथ का ही मिलती है।

इस स्थिति मे यद्यपि कि प्रतिज्ञप्ति (ग) (i) सत्य भी है, (ii) इसम स्मिथ को विश्वास भी था (iii) और इस प्रतिज्ञप्ति म विश्वास करने के लिय स्मिथ के पास पर्याप्त प्रमाण भी था। तथापि इस स्थिति मे यह नही कहा जा सकता कि स्मिथ (ग) को जानता था।

द्वितीय उदाहरण (च) जॉन्स के पास एक फोड है। मान लिया जाय कि प्रतिज्ञप्ति (च) मे विश्वास करने के लिय स्मिथ के पास प्रमाण है कि जहा तक स्मिथ को याद आता है उसने हमेशा ही जॉं स के पास एक फोड देखी है और कई बार उस फोड म जिसे कि स्मिथ चला रहा था जॉं स घूम भी चुका है। स्मिथ का एक दूसरा मित्र ब्राउन है जिसके बारे मे स्मिथ नही जानता कि इस समय ब्राउन कहा है। अब वह (च) के आधार पर निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तिया स्थापित करता है—

(छ) या तो जा स के पास एक फोड है अथवा ब्राउन इस समय बोस्टन म है।

(ज) या तो जॉं स के पास एक फोड है अथवा ब्राउन इस समय बार्सिलोना मे है।

(झ) या तो जॉन्स के पास फोड है या ब्राउन एव इस समय लदन मे है।

ये तीनो प्रतिज्ञप्तिया चूकि (च) पर आधारित हैं और (च) पर विश्वास के लिये स्मिथ के पास अच्छे प्रमाण भी है अत स्मिथ ने आसानी से (च) स (छ) और (ज) निगमित किया। चूकि ये प्रतिज्ञप्तिया वैकल्पिक हैं और इन सभी प्रतिज्ञप्तियो का एक अनुवाद सत्य है। अत ये तीनो प्रतिज्ञप्तिया सत्य है।[11]

पर तु आगे चलकर ऐसा पाया जाता है कि वस्तुत जॉं स बराबर जिस फोड म घूमता देखा गया था, वह फोड जा स की नही थी, वह फोड जान्स ने किराए पर ले रखी थी और ब्राउन वस्तुत उस समय बार्सिलोना (प्रतिज्ञप्ति (ज) मे इगित स्थान पर) उपस्थित था।

इस स्थिति म यद्यपि (i) (ज) प्रतिज्ञप्ति सत्य है (ii) (ज) मे स्मिथ को विश्वास है (iii) (ज) म विश्वास करन के लिये स्मिथ के पास पर्याप्त कारण हैं तथापि यह नही कहा जा सकता कि स्मिथ (ज) प्रतिज्ञप्ति को जानता था।

अब हम अलग-अलग इन दोनो उदाहरणा की जाच करेंगे। प्रथम उदाहरण म प्रतिज्ञप्ति (ग) के जानने की बात की गई है जो गेटियर के अनुसार जानन की तीनो शर्तों को पूरा करती है। किन्तु वह जानने की स्थिति नही कही जा सकती है। यहा हम

देखेंगे कि गेटियर महोदय प्रतिज्ञप्ति (क) और प्रतिज्ञप्ति (च) को गडबड कर देते जब वह प्रतिज्ञप्ति (च) के जानने की बात करते हैं तब यहा तक तो सत्य है कि प्रतिज्ञ (i) (च) सत्य है (ii) स्मिथ को प्रतिज्ञप्ति (च) में विश्वास है परन्तु (iii) [illegible] पास प्रतिज्ञप्ति (च) को में विश्वास के लिये उचित प्रमाण तक नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञ (च) में विश्वास वह प्रतिज्ञप्ति (क) के आधार पर करता है। जिस प्रतिज्ञप्ति में विश्व करने लिये उसके पास (ड) प्रमाण है। किन्तु (ख) प्रमाण सत्य नहीं है और असत्य प्रमा के आधार पर विश्वास के ज्ञान होने की बात कहीं भी नहीं कही गई है। अतः कहना [illegible] होगा कि उसे (क) का ज्ञान है और चूकि उसे (क) का ज्ञान नहीं है तथापि वह ([illegible] पर विश्वास करके (च) प्रतिज्ञप्ति स्थापित करता है। अतः इस स्थिति में यह नहीं [illegible] जा सकता कि उसके पास (च) के लिए उचित प्रमाण है। क्योंकि उचित प्रमाण वही सकते हैं जो कम-से-कम सत्य अवश्य हो। चूकि (क) सत्य नहीं है अतः यह (च) प्रमाण नहीं हो सकता। यही कारण है कि ऊपर से ऐसा प्रतीत होने पर भी कि (च) जानने की सभी स्थितियों को स्मिथ पूरा कर रहा है, वह जानने की स्थिति नहीं पाती। क्योंकि वस्तुतः वह जानने की तीसरी शर्त—सत्यता में विश्वास का उचित प्रम नहीं पूरी कर पाता।

पुनः (ग) प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण से एक और बात सामने आती है—वह व्यक्ति जिसके पॉकेट में दस सिक्के हैं नौकरी प्राप्त करेगा, के दो अर्थ हो सकते हैं—

(i) वे सभी व्यक्ति नौकरी प्राप्त करेंगे जिनके पॉकेट में दस सिक्के हैं, [illegible]

(ii) जिन व्यक्तियों के पाकेट में दस सिक्के हैं उन्हीं व्यक्तियों में से [illegible] नौकरी प्राप्त करेगा।

यहा प्रतिज्ञप्ति (ग) स्थिति (ii) को ही सकेत करती है। क्योंकि यहा नौकरी कोई [illegible] ही व्यक्ति पा सकेगा। यहा हम देखते हैं कि जोंस के पॉकेट में भी दस सिक्के हैं [illegible] स्मिथ के पॉकेट में भी। इन दोनों में से कोई भी व्यक्ति अगर नौकरी प्राप्त करता है [illegible] प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी। अब स्मिथ नौकरी प्राप्त कर लेता है। अतः (i) [illegible] सत्य होती है, (ii) इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता में स्मिथ को विश्वास भी है, (iii) [illegible] यह प्रश्न फिर उठता है कि क्या उसके पास इसी प्रतिज्ञप्ति (ग) के लिये [illegible] निश्चय ही नहीं। जान को नौकरी मिलेगी यह प्रमाण प्रतिज्ञप्ति (ग) [illegible] का नहीं। और यहा (ग) के जानने की बात की जा रही है, (क) [illegible] पुनः यहा हम देख रहे हैं कि (ग) प्रतिज्ञप्ति के जानने [illegible] सकती है कि स्मिथ के पास (ग) का प्रमाण नहीं है।

दूसरे उदाहरण में भी यही प्रश्न आता है [illegible] (च) [illegible] मानते हैं वह वस्तुतः क्या (च) का प्रमाण है? [illegible] (च) [illegible] हैं। परन्तु यहा तक ठीक है कि (अ) (च) [illegible] जाता है कि (च) को (अ) का प्रमाण [illegible] आती है कि जो प्रतिज्ञप्ति स्वतः असत्य हो, वह दूसरी [illegible]

है ? यहा तो (च) स्वत अप्रमाणित है क्योकि उसके पक्ष म जो प्रमाण दिए गए है वही प्रमाण सत्य नही है। इस प्रकार हम पाते है कि दूसरी स्थिति को भी जानने की सत्ता प्रमाण मे अभाव नही दी जा सकती।

इस प्रकार हम पाते हैं कि गेटियर अपने विवेचन मे यह स्थापित करने म सफल नही हो पाते कि ज्ञान की दी गई तीनो शर्तें न तो पर्याप्त है और न अनिवार्य।

(ख) तथ्यात्मक ज्ञान की उपाधि तथ्यात्मक ज्ञान के क्षेत्र म अनिवार्यता का दावा नही किया जा सकता—इस कथन पर दो मत नही हो सकते, किन्तु क्या इनके लिये किसी अनिवार्य शर्त की बात की जा सकती है ? निश्चय ही दोनो दो प्रतिज्ञप्तिया हैं कि (i) तथ्यात्मक ज्ञान के लिये अनिवार्य शर्तो की स्थापना ही सम्भव नही है तथा (ii) तथ्यात्मक ज्ञान की जो शर्तें बतायी गई हैं वे अनिवार्य नही हैं, क्योकि (i) यह प्रतिष्ठित करता है कि अगर दी गई सभी उपाधियाँ अनिवार्य नही हो तब भी इनके अतिरिक्त क्या कुछ अन्य उपाधिया क अनिवार्य होने की बात की जा सकती है ? हम देखेंगे कि तथ्यात्मक ज्ञान दोनो प्रश्नो का उत्तर निषेधात्मक ही होगा।

कथन (ii) को लें। ज्ञान की तीन उपाधिया बतायी गई हैं, इनम से हम पहली उपाधि को लें कि प के ज्ञान होने की अनिवार्य उपाधि यह है कि प सत्य हो। हम देखेंगे कि प के ज्ञान होने की अनिवार्य शर्त यह है कि प सत्य हो तथा प अनिवार्यत सत्य हो दोनो कथन सदव एक ही हैं। तब भी जबकि प अनिवार्यत सत्य हो म अनिवार्य शब्द उपाधि के सदर्भ म नही सत्य के सदर्भ म ही व्यवहृत कहा जाय। जब कहते हैं कि प अनिवार्यत सत्य हो तो इसका अर्थ यह है कि प की असत्यता की सम्भावना भी शेष नही रहे और जब हम यह कहते हैं कि प के ज्ञात होने की अनिवार्य शर्त यह है कि प सत्य हो तो हमारा अभिप्रेत अर्थ सिवा इसके और क्या हो सकता है कि प के असत्य होने की सम्भावना भी नही रहे। अनिवार्य शर्त का अर्थ ही है कि अगर यह स्थिति यहा है तो यह स्थिति भी यहा होगी अन्यथा नही होगी। इस प्रकार प के ज्ञान होने की अनिवार्य उपाधि है कि प सत्य हो का अर्थ है कि अगर प असत्य है तो वह ज्ञान नही है।

अब यहा दो कठिनाइया आती है। एक तो यह कि प अगर असत्य है तो वह ज्ञान नही है का अर्थ यह है कि प को ज्ञात होने के लिए सत्य होना ही है, प के ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि प की असत्यता की कोई सम्भावना नही हो। दूसरे शब्दो म इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि प के ज्ञात होने के लिए यह आवश्यक है कि प अनिवार्यत सत्य हो। अब अगर प कोई तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति है और यह हम पहले ही पूछ चुके है कि तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति का अनिवार्य रूप से सत्य होना नितान्त असम्भव है तो ज्ञान की इस उपाधि का क्या औचित्य हो सकता है कि प अनिवार्यत सत्य हो।

द्वितीय, अगर इस कथन को स्वीकार किया जाय कि तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति को अनिवार्यत सत्य कहा जा सकता (जो बहुत सही नहीं लगता) तो भी यह प्रश्न उठता है कि अगर कोई तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति अथवा वस्तु स्थिति अनिवार्य हो भी तो हम कैसे जानेंगे कि यह अनिवार्य है ? या कैसे हम जानेंगे कि यह अनिवार्यत सत्य है ?

यहाँ प को सत्य जानने के लिये सत्यता के विभिन्न सिद्धान्तो का उल्लेख किया जा सकता है किन्तु यहा जो प्रश्न पूछा जा रहा है उसका उत्तर सत्यता के सिद्धान्त नही होंगे। वस्तुत इस कथन म ही चक्र दोप है कि ज्ञान का स्वरूप निर्धारित करने के लिये हम तीन उपाधिया या कुछ उपाधियो की बात करें और उन उपाधियो के स्पष्टीकरण के लिये पुन उसम ज्ञान शब्द का प्रयोग कर दें। यहा बात बिल्कुल वही है। हम पूछ रहे हैं कि हम कब कहेंगे कि हम प को जानते हैं ? उत्तर मे हम यह मिलता है कि प सत्य हो जिससे अनिवायत यह प्रश्न नि सृत होता है कि हम प को सत्य कसे जानते हैं ? यहा प को सत्य जानने के पक्ष म हम चाह जितनी विवेचना कर जाय पर जैसे ही हम विवेचना करने को प्रस्तुत हुंगे यह बात प्रमाणित हो जायगी कि प को जानने की अनिवाय उपाधि यह है कि प को सत्य जाना जाय। यह कथन उस कथन से भिन्न नही है कि जाने का अर्थ यह है कि कोई यहा से चला जाय। यह परिभाषा का दोष है कि हम जिस चीज की परिभाषा बता रहे हैं अथवा जिस पद का अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं स्पष्टीकरण के क्रम म पुन उसी शब्द को व्यवहृत कर रहे हैं।

यही बात ज्ञान की किसी भी उपाधि क सम्बन्ध म कही जा सकती है। जब हम कहते हैं कि प के ज्ञान के लिये आवश्यक है कि हम प की सत्यता मे विश्वास हो तो पुन यहा प्रश्न आ जाता है कि हम कैसे जानेंगे कि क को प की सत्यता म विश्वास है या क का विश्वास युक्ति-पूर्ण है ? और जैसे ही जानना की व्याख्या का विश्वास के या प्रमाण के सदभ म करने को हम बढते हैं, विश्वास या प्रमाण की व्याख्या मे चाहे हम जितने सफल रहें, ज्ञान की व्याख्या मे असफल हो जाते हैं।

इस प्रकार, न मात्र ज्ञान की यही तीन शर्तें अनिवार्य कह देने पर घपला पैदा करती हैं, वरन ज्ञान की जब भी कोई शत बतायी जाएगी वह घपला ही पैदा करेगी क्यो कि तुरन्त यह प्रश्न आएगा — इस शत को हम कसे जानते हैं ? और जब तक जानना का स्वरूप हम निर्धारित नही कर लेते यह बता सकते कि हम इन शर्तों को कसे जानते हैं।

(ग) **क्या ज्ञान अपरिभाषेय है ?** ऊपर हमने देख लिया कि ज्ञान की पर्याप्त और अनिवाय उपाधि को बताने म चक्रक दोप होता है। तब क्या ज्ञान को परिभाषित करने की चेष्टा व्यथ है ? किन्तु ज्ञान तो मानव प्राप्त करता ही है और दैनिक जीवन म जानने अथवा प्रमा के सत्य और असत्य दावे मे व्यक्ति आसानी से अन्तर भी कर लेता है। अत जानना अथवा प्रमा किस स्थिति की सज्ञा है यह हम अवश्य जानते हैं। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि हम प्रमा अथवा जानने की ठीक-ठीक दोषरहित और सामान्य परिभाषा नही दे पाते तो हम अब तक की अपनी असफलता का लेखा जोखा दे रहे होते हैं। इसस जानना अथवा प्रमा का अपरिभाषेय होना सिद्ध नही होता। किन्तु जानना अथवा प्रमा की पर्याप्त और अनिवाय उपाधिया क्या हो ? जब इनकी खोज म ही चक्रक दोप आता है तो इसे कसे परिभाषित किया जा सकता है ?

किन्तु समस्या की अधिक गहराई मे उतरने से पाते हैं कि ज्ञान को अपरिभाषेय कह देना एक सतही समाधान है। यहा हमे इस प्रश्न का उत्तर जान लेना चाहिये कि जब

सन्दर्भ

1 रसेल, बी०, एसेज इन क्रीटिकल रियलिज्म, पृ० 89
2 चटर्जी सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज, पृ० 12
3 न्याय बिन्दु टीका, प्रथम अध्याय।
4 शास्त्र दीपिका, पृ० 56
5 चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि न्याय थ्योरी आफ नॉलेज, पृ० 15
6 वही, पृ० 16 17
7 वही, पृ० 17-18
8 ग्रीफिथ, ए० फिलिप्स, (स) नॉलेज एण्ड बिलीफ, पृ० 144-146
9 चिज्म, आर० एम०, परसीविंग, ए फिलासफिकल स्टडी, पृ० 16
10 एयर, ए० जे०, प्रोब्लेम ऑफ नॉलेज, पृ० 34
11 सुपीज पट्रिक, एन इण्ट्रोडक्शन टू लॉजिक, पृ० 5

० ०

परिशिष्ट—एक

अनूदित पद-सूची (हिन्दी-अंग्रेजी)

अवैध	Invalid
असत्यता	Falsity
अभिकथन	Statement
असंदिग्ध	Indubitable
असाक्षात रीति से प्रमाण युक्त	Indivectly evident
अनौपाधिक	Unconditional
अन्तर्दृष्टि	Insight
अनिवार्यता	Certainty
अनिवार्य उपाधि	Necessary Condition
अस्तित्व	Existence
अन्त अनुभूतिवाद	Intuitionism
अज्ञेयवाद	Agnosticism
अन्तर्निरीक्षण	Introspection
अनुलग्नता	Implication
आत्मप्रदर्शक	Self presentity
आत्मगत	Subjective
आस्तिक	Orthodox
आनुभविक	Empirical
आभासिक जगत	Phenomenal World
आगमन	Induction
आधार वाक्य	Premise
आकस्मिक लक्षण	Accompanying character
इन्द्रिय प्रदत्त	Sense-data
इन्द्रिय संवेदन	Sense-experience
उपाधि	Condition
उपयोगितावाद	Pragmatism
उत्तरानुभविक	A Posteriori

औपाधिक	Conditional
कुलक	Set
गुणात्मक	Qualitative
जानना	To know
जटिल प्रत्यय	Complex Idea
तर्कनिष्ठ अनुभववाद	Logical Positivism
तार्किक	Logical
तत्त्वमीमांसा	Metaphysics
तर्कनिष्ठ परमाणुवाद	Logical Atomism
तर्कशास्त्र	Logic
तथ्य	Fact
तथ्यगत	Factual
तादात्म्य	Identity
दोषरहित रूप से प्रमाणयुक्त	Non defectively evident
निर्णय	Judgement
निश्चयात्मकता	Certainty
नास्तिक	Hetrodox
निरपेक्ष प्रतिज्ञप्ति	Categorical Proposition
निरपेक्ष सत्यता	Absolute Certainty
नैतिक आश्वासन	Moral Assurance
निगमनात्मक	Deductive
निगमित	Derived
परिमाणात्मक	Quantitative
परमतत्व	Ultimate Reality
पारमार्थिक ज्ञान, तत्वमीमांसीय ज्ञान	Metaphysical Knowledge
परिभाषा	Definition
प्रतिज्ञप्ति	Proposition
पर्याप्त उपाधि	Sufficient condition
पद	Term
पारिभाषिक लक्षण	Defining character
पुनरुक्ति	Tautology
प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षीकरण	Perception
प्रागनुभविक	A Priori
प्राक्कल्पना	Hypothesis
प्रमाण	Evidence

प्रत्ययवाद	Idealism
बोध	Cognition
बहुगुण सबध	Multiple Relation
भाषागत	Linguistic
मौलिक अभिकथन	Basic Statement
विधेय	Predicate
विश्वास	Belief
वैध	Valid
विश्लेषण	Analysis
वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति	Disjunctive Proposition
वृत्ति	Disposition
वस्तुगत	Objective
व्युत्पन्न रूप से	Derivatively
वाक्य का अभिप्राय	Significance of a Sentence
वास्तववाद	Realism
वस्तुस्थिति	State-of affair
स्वरूप	Nature
स भावना	Possiblity
सरल प्रत्यय	Simple Idea
सत्यता	Truth
साक्षात रीति से प्रमाण युक्त	Directly Evident
सप्रत्यय	Concept
सुस्पष्ट और सुभिन्न	Clear and Distinct
सशय	Doubt
सशयवाद	Scepticism
स्वत प्रामाण्य	Self evident
ससक्तता	Coherence
सवाद	Correspondence
सत्यापन	Verification
स्वतोव्याघाती	Self-Contradictory
सवेदन	Sensation
सवृत्तिवाद	Phenomenalism
स रचनात्मक समानता	Structural Similarity
हेत्वाश्रित प्रतिज्ञप्ति	Hypothetical Proposition
ज्ञानमीमासा	Epistemology

ज्ञान	Knowledge
ज्ञान के साधन	Sources of Knowledge
ज्ञेय	Object of Knowledge
ज्ञाता	Knower



परिशिष्ट—दो

हिन्दी/सस्कृत ग्रन्थ-सूची

अद्वैत सिद्धि	निणयसागर मुद्रणालय, बम्बई, सन 1917।
ईशोपनिषद	हि दी टीका सहित, गजाधर प्रसाद, स्टैण्डड प्रि टस, गया।
ईशावास्योपनिषद	हि दी टीका सहित, गजाधर प्रसाद, स्टैण्डड प्रि टस, गया।
ऋग्वेदसहिता	प० रामगोवि द त्रिवेदी, प० गौरीनाथ झा, वैदिक पुस्तकमाला, कृष्णगढ़, सुल्तानगज, भागलपुर, आश्विन, 1988 विक्रमीय।
केनोपनिषद्	स्वामी सवदान द, रामकृष्ण मठ, सन् 1943।
चार्वाक दशन	आचाय आन द झा, हि दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ।
चार्वाक दशन की शास्त्रीय परीक्षा	डॉ० सवदानन्द पाठक, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1965।
छा दोग्योपनिषद	गीता प्रेस, गोरखपुर।
जैन दशन	डॉ० महे द्रकुमार, एम० ए०, यायाचाय, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जन ग्र थमाला, काशी, द्वितीय सस्करण, सन् 1966।
जन याय खण्डखाद्यम	श्री यशोविजय सूरी, चौखम्भा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1, सन् 1966।
तकभाषा	केशव मिश्र, व्याख्याकार, आचाय विश्वेश्वर सिद्धा त शिरोमणि, चौखम्भा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-1।
तत्व चि तामणि (प्रामाण्यवादान्त प्रथम खण्ड)	गगेशोपाध्याय, महाराज महेश ठक्कुर कृत दपण सहित, मिथिला इ स्टीच्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसच इन सस्कृत लर्निंग, सन् 1957।
तात्पय टीका	भाट्ट अम्बेक, मद्रास सस्कृत सीरीज।

तर्क संग्रह दीपिका	आचाय आन द झा, उत्तर प्रदेश हि दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, सन् 1976।
तत्व सग्रह	भाग-1, 2, आचाय शातिरक्षित विरचित कमलशील कृत पचिकोपत, स० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, सन् 1968।
तक रेखा	सुरे द्र बारलिगे, राजस्थान हि दी ग्र थ अकादमी, जयपुर 4, सन् 1972।
तैत्तरियोपनिषद्	स्वामी सवदान द, रामकृष्ण मठ, 1942।
दशनदिग्दशन	राहुल साकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1947।
दाशनिक विश्लेषण परिचय	जान हास्पस, अनुवाद गोवधन भटट, सुधा, विमला, पुनरीक्षक हरिमोहन झा, बिहार हि दी ग्र थ अकादमी, पटना।
याय दशन, भाग-1, 2	याय सूत्र, यायभाष्य, यायवर्तिका, यायवर्तिका तात्पयटीका, न्यायसूत्रवृत्ति सहित। कलकत्ता सस्कृत ग्र थमाला, ग्र थाक 18, कलकत्ता, सन् 1936।
यायमजरी भाग 1,2	जय त, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1936।
यायदर्शनम्	वात्स्यायनभाष्य, स० श्री नारायण मिश्र चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, स० 2026 विक्रमीय।
यायरत्नमाला	पाथसारथी, गायकवाड ओरियेन्टल सीरीज, बडोदा।
यायबिंदु टीका	धर्मोतराचाय, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1, सन् 1954।
यायबिंदु	धमकीर्ति, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, वाराणसी 1, सन 1954।
याय सिद्धा त मुक्तावलि	श्री विश्वनाथ भट्टाचाय प्रणीत, यायाचाय प० श्री ज्वाला प्रसाद गौड कृत हि दी सस्कृत टीका सहित 185 गणेश महल, वाराणसी, जुलाई, सन 1958
यायवर्तिकातात्पयटीका परिशुद्धि	बिवलाथिका इण्डिका, कलकत्ता, सन् 1911।
यायशास्त्र की रूपरेखा	काशीनाथ उपाध्याय, भारती भवन, पटना 1, सन् 1967
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन	देवराज, बुद्धिवादी प्रकाशन गृह, उत्तर प्र"", द्वितीया वृत्ति।
प्रकरणपचिका	शालिकनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, सन् 1961।
प्रशस्तपादभाष्यम्	यायक दली टीका सहित, अनुसधान सस्थान,

वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् 1963 ।

प्रमाण समुच्चय — दिग्नाग, प्रमाण समुच्चयवृति सहित, मसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर ।

प्रमय कमल मातण्ड — निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, सन 1941 ।

पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन — डॉ० रामशकर भट्टाचाय, इण्डोलाजिक बुक हाउस, वाराणसी ।

बोधिचर्यावतार सूत्र — महाओधि सभा, सारनाथ वाराणसी, सन् 1965 ।

बौद्ध न्याय — शेरवात्सकी, अनुवाद रामकुमार राय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 1, सन् 1966 ।

बौद्ध तक भाषा — मोक्षकारगुप्ता विरचित, स० डॉ० रघुनाथ गिरि, प्राच्य प्रकाशन, 74 ए, जगतगज, वाराणसी ।

बौद्ध दशन — राहुल साकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद-सन् 1962 ।

भामती — वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा प्रकाशन, बनारस सिटी, सन् 1935 ।

भारतीय दाशनिक समस्याए — डॉ० नन्दकिशोर शर्मा, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर, सन् 1976 ।

भारतीय दशन की रूपरेखा — एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, सन् 1973 ।

भारतीय दशन — स० राधाकृष्णन, भाग 1, 2, राजपाल एण्ड स स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, प्रथम सस्करण 1969 ।

भारतीय दशन — डा० वसन्त कुमार लाल, भारती भवन, पटना-1, सन् 1969 ।

भारतीय दर्शन का इतिहास — सुरेन्द्र दास गुप्ता, भाग-1, 2, 3, 4, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर 4, सन् 1972 ।

भारतीय दशन मे अनुमान — डॉ० ब्रजनारायण शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सन् 1973 ।

मीमासा दशनम् — मीमासा सूत्र तथा शबरभाष्य सहित । आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् 1929 ।

योग दशन — महर्षि पातजलि, टीकाकार श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० 2017 ।

वेदान्त ज्ञान मीमासा — घनश्यामदास रतन चन्द मलकानी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सन् 1973 ।

श्वेताश्वरोपनिषद् — स्वामी त्यागीसानन्द, रामकृष्ण मठ, मद्रास, सन् 1943

परिशिष्ट—तीन

अंग्रेजी ग्रंथ सूची

Aristotle	'Metaphysics', trans W D Ross, oxford University Press, 1924
Ayer, A J	'The Problems of knowledge', Penguin books, 1956
	'The Foundations af Empirical knowledge' Macmillan, 1971
	'Language, truth and Logic', Victor collancz Ltd, London, 1962
	'Logical Positivism', The Free Press, New York, 1966
	'The concept of a person and other essays', Macmillan, 1966
	'The Central questions of Philosophy', Penguin books, 1976
Bradley F H	'Principles of Logic,' Vol I & II Oxford University Press, 1928
	'Appearance and Reality,' Clarendon Press, Oxford, 1930
Brain, David	'The Nature of knowledge,' Proceedings of the Aristotalian Society, New Series Vol Lxxii
Brentano, Franz	'The true and the evidence,' Routledge and kegan Paul, New York, 1966
Bhatta, Gowardhan Pd	'Epistemology of the Bhatta School of Purva Mimamsa,' Chaukhambha Sanskrit Series office, 1962

Blanshard, B — 'The Nature of Thought,' George Allen and Unwin, London, 1939

Chatterjee, S C — 'The Nayaya Theory of knowledge, second edition, University cf Calcutta, 1950

'The Problems of Philosophy,' Second Ed University of Calcutta, 1964

Chisolm, R M — 'Theory of Knowledge'

'Perceiving A Philosophical Study', Ichaca, New York, 1957

Chatterjee, P B — 'Outlines of General Philosophy', Eleventh edition, The Author, 32, Beadon street, Calcutta

Chennakesvan Sarasvati — 'Concepts of Indian Philosophy,' Orient Longman, 1976

Das Gupta, S N — 'The History of Indian Philosophy, Vol I IV Cambridge University Press, 1961

Dutta, D M — 'The Six ways of knowing,' University of Calcutta, 1972

Eames, Elizabeth Ramsden — 'Bertrend Russell's Theory of Knowledge', George Allen and Unwin Ltd London, 1969

Falckenberg, R — 'History of Modern Philosophy', Progressive Publishers, Calcutta, 1962

Finedley, J N — 'Studies in Philosophy', Oxford University Press, London, 1966

Griffiths, A Phillips — 'Knowledge and Belief,Oxford University Press, 1967

Hosperse, John — 'An Introduction to Philosophical Analysis,' Allied Publishers, Pvt Ltd, 1971

Hick, John — 'Faith and Knowledge', Macmillan, London, 1967

Hobhouse, L. T — 'Theory of Knowledge', Methuen and Co London, 1905

Jha, Ganganath — 'The Prabhakar School of Purva

Mimamsa, Indian Thought, Allahabad, 1911

Joachim, H H — 'Nature of Truth', the Clarendon Press, Oxford, 1906

James William — 'Principles of Psychology,' Holt, Rinehart and winston, New York, 1920

Lockes, John — 'An Essay concerning Human Understanding, Trans M Carlston, Collier Macmillan, 1965

Moore, G E — 'Some Main Problems of Philosophy', George Allen and Unwin Ltd London, 1962

Moore, C A — 'Essays in East West Philosophy', University of Hawai Press, Honolulu, 1951

Malcolm, Norman — 'Knowledge and Certainity, Prentice Hall International, 1963

Prasad, Jawala — 'History of Indian Epistemology, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 6, 1958

Pruyser, Paul — Between belief and Unbelief,' Shelden Press, London, 1974

Price, H H — 'Perception,' oxford University Press, London, 1932

Russell, B — Human Knowledge, Its Scope and Limits George Allen and Unwin Ltd, London, 1948

'My Philosophical Developments,' Allen and Unwin, London, 1959

'An Inquiry into Meaning and truth, Penguin books, 1962

'Philosophical Essays,' A Clarian book, Simon and Schuster, New York, First Paper back edition, 1968

'Mysticism and Logic', Allen and Unwin, 1917

'The Problems of Philosophy', Oxford University Press, New York, 1957

Reid, L A — 'Knowledge and truth,' Macmillan and Co Ltd London, 1923

Stace, W T — 'A critical History of Greek Philosophy, Macmillan and Co L d, London, 1964

Smith, N K — 'The Philosophy of David Hume', Oxford University Press, London, 1941

Satprakashsnand, Swami — 'Methods of Knowledge', George Allen and Unwin Ltd London, 1941

Sengupta, Pradeep — 'An Introduction to Philosophy', Progressive Publishers, Calcutta, 1966

Sharma, C D — 'A Critical Survey of Indian Philosophy', Motilal Banarsidas, Delhi, 1964

Suppes, P — 'An Introduction to Logic, Alfriend East-Klest Precss, New Delhi, 1969

Thilly, F — 'A History of Modern Philosophy', Central book Depot, Allahabad, 1958

Wright, W K — 'A History of Modern Philosophy, Macmillan, NewYork, 1941

Wittgensteine, L — 'Philosophical Investigation', oxford University Press, 1953

'The Philosophy of Plato', Carlton House, New York, 1928

The cultural Heritage of India, Vol I IV The Ramkrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1969

o—o

डॉ नीलिमा सिन्हा

बी ए ऑनर्स, एम ए (दर्शन शास्त्र) पी एच डी 1977 मे रोहतास महाविद्यालय सासाराम से शिक्षण के क्षत्र म प्रवेश। तदुपरान्त गया कॉलेज गया (मगध विश्वविद्यालय) के दर्शन शास्त्र विभाग मे व्याख्याता के रूप मे कार्यरत। अध्ययन, अध्यापन एव लेखन ही जीवन का उद्देश्य

सम्प्रति गौतम बुद्ध महिला महाविद्यालय, गया (मगध विश्वविद्यालय) के दर्शन शास्त्र विभाग मे उपाचार्या एव गया कॉलेज, गया के स्नातकोत्तर दर्शन शास्त्र विभाग मे मानद रूप मे अध्यापन